शोधादर्श

११

प्रकाशक :
तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ
मई १९९०

संस्थापक एवं आद्य सम्पादक : डा० ज्योति प्रसाद जैन
प्रबन्ध सम्पादक एवं प्रकाशक : श्री अजित प्रसाद जैन,
मन्त्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०,
पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ–२२६ ००४
सम्पादक मंडल : डा० शशि कान्त, श्री रमा कान्त जैन

★ विषय-क्रम ★

१. गुरुगुण-कीर्तन–उमास्वाति —श्री रमा कान्त जैन १
२. श्री महावीर वचनामृत —संकलित २
३. वर्द्धमान महावीर —डा० शशि कान्त ३
४. कुलचन्द्र नाम के आचार्य —(स्व०) डा० ज्योति प्रसाद जैन १३
५. भगवान महावीर जन्म-स्तुति —श्री प्रकाश चन्द्र जैन 'दास' १४
६. काम्पिल्य —श्री अभय प्रकाश जैन १५
७. शब्द और भाषा —कु० विभा जैन १८
८. अग्रवाल जाति और जैन धर्म —श्री अजित प्रसाद जैन २०
९. जैन दर्शन की कर्म सम्बन्धी अवधारणा —डा० रज्जन कुमार २७
१०. साहित्य-सत्कार —श्री अजित प्रसाद जैन ३८
११. शोध की सफलता ४१
१२. अभिनन्दन ४२
१३. बधाई ४४
१४. संगोष्ठियां ४५
१५. समाचार ४६
१६. अभिमत ४९

मूल्य प्रति–५ रु०
वार्षिक–१५ रु०
आजीवन–१५० रु०

लेखक के विचारों से सम्पादक अथवा संस्थान का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

णाणंणरस्स सारं-सच्चं लोयम्मि सारभूयं

शोधादर्श-११

वीर निर्वाण संवत् २५१६ मई १९९० ई०

गुरुगुण-कीर्तन

उमास्वाति

तत्त्वार्थसूत्र कर्तारमुमास्वाति मुनीश्वरम् ।
श्रुतिकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम् ।।

(हुम्मच-पद्मावती मन्दिर शिलालेख)

अर्थात् मैं तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता, श्रुतिकेवलि, गुणों के भण्डार, मुनीश्वर उमास्वाति की वन्दना करता हूं।

श्रीमान् उमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटी चकार ।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम् ।।

(श्रवणबेलगोल शिलालेख १०५/२५४)

अर्थात् इन यतियों में श्रेष्ठ श्रीमान् उमास्वाति ने उस तत्त्वार्थसूत्र को प्रकट किया (की रचना की) जो मुक्ति मार्ग पर चलने के लिये उद्यत जनों के लिये पाथेय और अर्घ्य है ।

अभूदुमास्वाति मुनिः पवित्रवंशे तदीये सकलार्थवेदी ।
सूक्ष्मीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन ।।
स प्राणिसंरक्षण-सावधानो बभार योगी किल गृद्धपक्षान् ।
तदाप्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्य्य शब्दोत्तर गृद्धपिच्छम् ।।

(श्रवण बेलगोल शिलालेख १०८/२५८)

अर्थात् वह सकल अर्थ को जानने वाले अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानी मुनि उमास्वाति पवित्र वंश में हुए जिन मुनि पुङ्गव (मुनियों में श्रेष्ठ) ने जिनेन्द्र द्वारा प्रणीत शास्त्रों के अर्थ को सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत किया । वह योगी (सफाई करने में) गिद्ध के (कोमल) पंखों का प्रयोग कर प्राणिसंरक्षण में सावधान रहते थे। इसीलिये तभी से बुधजन उन्हें आचार्य गृद्धपिच्छ (अर्थात् गिद्ध के पंखों की पिच्छि धारण करने वाले आचार्य) नाम से पुकारने लगे ।

जिनोक्तं-सप्ततत्त्वार्थं सूत्रकर्ता कवीश्वरः ।
उमास्वाति मुर्निनित्यं कुर्यान्मे ज्ञान संपदाम् ।।

(विद्यानन्दी-सुदर्शन चरित्र)

अर्थात् जिनेन्द्र द्वारा बताये गये सप्ततत्त्वों के अर्थ को सूत्र रूप में रचने वाले कवीश्वर मुनि उमास्वाति नित्य मेरी ज्ञान संपदा को बढ़ायें ।

जैन परम्परा में बौद्ध परम्परा के विशुद्धिमग्ग के समान स्थान प्राप्त, दिगम्बर-श्वेताम्बर उभय सम्प्रदायों में समान रूप में प्रतिष्ठा और मान्यता प्राप्त, मूलआगमेतर धार्मिक साहित्य में सर्वाधिक प्रामाणिक, आर्ष एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र अपरनाम तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, दशाध्यायी और मोक्षशास्त्र माना जाता है । यह दस अध्यायों में विभक्त संस्कृत भाषा में अर्थगाम्भीर्यपूर्ण प्रायः ३५७ सूत्रों का व्यवस्थित संकलन है । इस ग्रंथ पर अनेक टीकाएं रची गई हैं 'जिनमें सर्वप्रथम टीका आचार्य समन्तभद्र (समय २री शती ईस्वी) कृत संघहस्ति महाभाष्य है, जो अनुपलब्ध है । सर्वप्राचीन उपलब्ध टीका पूज्यपाद देवनन्दी (समय ५वी शती ईस्वी) की सर्वार्थसिद्धि है । इस ग्रंथ के कर्ता उमास्वाति, जिनका विशेषण गृद्धपिच्छाचार्य था, का समय स्व० डा० ज्योति प्रसाद जैन ने आचार्य कुन्दकुन्द के परवर्ती और आचार्य समन्तभद्र के पूर्ववर्ती, प्रथम शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध के लगभग अनुमानित किया है । जैन सन्देश-शोधाङ्क २१ में अपने शोधकण में डाक्टर साहब ने यह संभावना व्यक्त की थी कि कदाचित् उमास्वाति सातवाहन नरेश शिवस्वाति के अनुज अथवा कनिष्ठ पुत्र रहे हों और राज्याधिकार से वंचित होने के कारण विरक्त होकर मुनि हो गये हों ।

—रमा कान्त जैन

श्री महावीर वचनामृत

सव्वतो पमत्तस्स भयं, सव्वतो अपमत्तस्स नत्थि भयं ।

प्रमत्त (प्रमादी) व्यक्ति को सर्वत्र भय है, अप्रमादी को कहीं भी कोई भय नहीं होता ।

उट्ठिए, णो पमायए ।

उठो ! प्रमाद मत करो ।

जह ते ण पियं दुक्खं तहेव तेंसिपि जाण जीवाणं ।

जिस प्रकार तुम्हें दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही अन्य जीवों के बारे में जानों ।

(शेष पृष्ठ १२ पर)

वर्द्धमान महावीर

—डा० शशि कान्त

वैचारिक क्रान्ति

ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में भारत में एक वैचारिक क्रान्ति हुई। इस क्रान्ति के प्रस्तोताओं ने जो चिन्तन प्रस्तुत किया उसके आधार पर अब यह माना जाने लगा है कि विश्व के दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में भारत अग्रणी रहा है। दार्शनिक चिन्तन की जो सूचनायें ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में हुये चिन्तन के आधार पर मिलती हैं वह इस बात का संकेत करती हैं कि चिन्तन की इस विधा का पर्याप्त विकास तब तक हो चुका था और चिन्तन उन प्रश्नों पर ऊहापोह करने के लिए समर्थ हो गया था जिनके विषय में सभ्य जगत के अन्य केन्द्रों में अभी प्राथमिक जिज्ञासा मात्र ही की गई थी। उस चिन्तन के दो पक्ष रहे—एक दार्शनिक और दूसरा सामाजिक। इस चिन्तन का क्रान्तिकारी रूप तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की अपेक्षा से अधिक था। वेद-बाह्य दार्शनिक परम्परा में संभवत: उस समय ऐसी मान्यता प्रचलित थी कि कोई तीर्थक या तीर्थंकर जन्म लेगा। बौद्ध ग्रन्थों में तीर्थंकों के जो नाम मिलते हैं उनसे यह भी संकेत मिलता है कि कम से कम सात चिन्तकों ने उस समय तीर्थक होने का दावा किया। उन तीर्थकों की शिक्षाओं के बारे में जो कुछ ज्ञातव्य उपलब्ध हैं उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन सभी को तत्कालीन व्यवस्था के प्रति क्षोभ था और उन्होने प्राणियों पर दयाभाव पर आधारित एवं व्यक्ति की प्रतिष्ठा पर अवलम्बित एक नई व्यवस्था का संदेश दिया था। जैनों के चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर उन तीर्थंकों में से एक थे। महावीर की परम्परा अब तक चली आ रही है, यह उनके चिन्तन की समर्थता का द्योतक है।

महावीर का व्यक्तित्व

महावीर का जन्म ईसा से ५९९ वर्ष पूर्व चैत्र शुल्क त्रयोदशी को उत्तरी बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में स्थित पुरानी वैशाली नगरी के समीपस्थ कुण्डग्राम में हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ थे जो अष्टकुलिक वज्जि संघ में सम्मिलित ज्ञातृकुल के थे। उनकी माता त्रिशला वज्जि संघ के अधिनायक चेटक की पुत्री थी। इस संघ के नागरिक अपने को राजा कहते थे और उनकी संख्या ७, ७०७ थी। वज्जि संघ की राजधानी वैशाली थी। इस प्रकार महावीर क्षत्रियों के उस वर्ग से सम्बन्धित थे जहां गणतंत्रात्मक शासन-व्यवस्था प्रचलित थी और इसका भी उनके चिन्तन पर प्रभाव रहा।

महावीर के जीवन के सम्बन्ध में जो ज्ञातव्य विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध है उसमें परम्परानुसार उन्हें एक गणनायक का पुत्र, वैभवपूर्ण वातावरण में सम्पूर्ण सुख समृद्धि के साधनों के बीच पले हुए राजकुमार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह अति वैभव में पलने एवं उच्च कुल में जन्म लेने की कल्पना महावीर द्वारा किये गये त्याग एवं तपस्या के महत्व को बढ़ाने के लिये की गई प्रतीत होती है। राजा की जो उपाधि सिद्धार्थ के नाम के साथ जुड़ी है वह उसके राजत्व का नहीं अपितु उसके वज्जिसंघ का नागरिक होने का बोध कराती है। महावीर के बाल्यकाल से सम्बन्धित जो उनके अतिशय शक्ति आदि के दृष्टान्त हैं वे भी प्राय: एक आदर्श चित्रण की अपेक्षा से ही किये गये प्रतीत होते हैं। ऐसा प्राय: सभी महापुरुषों के साथ हुआ है क्योंकि बहुल जनता उससे प्रभावित होती है। एक वर्ग जो अधिक आदर्शवादी है वह उन्हें आजन्म ब्रह्मचारी भी सूचित करता है जबकि उनके अनुयायियों का एक दूसरा वर्ग उनका विवाह होना तथा उनके एक कन्या सन्तान होना भी मानता है।

तीस वर्ष की आयु में महावीर ने घर त्याग कर वन की राह ली और १२ वर्ष ६ माह १५ दिन तक विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण करने और कठोर तपश्चरण करने के पश्चात उन्हें वैशाख शुक्ल दशमी को ई० पू० ५५७ में उज्ज-वलिया नदी के उत्तरी तट पर जम्भिय ग्राम के समीप एक शालवृक्ष के नीचे केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। तभी से यह महावीर एवं जिन कहलाये। उन्होंने जो चिन्तन प्रस्तुत किया वह संभवत: गृह त्याग किये बिना भी साध्य था, परन्तु तत्कालीन सामाजिक वातावरण में अपनी बौद्धिकता की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिये संभवत: यह आवश्यक था। बौद्धिकता का एकाधिकार प्राय: ब्राह्मण वर्ण में सीमित था और उस एकाधिकार को भेदने की चेष्टा क्षत्रिय वर्ण ने अधिक कठोर तपश्चरण के मार्ग को अपनाकर की। साथ ही उनके प्रधान गणधर के रूप में इन्द्रभूति गौतम नामक एक ब्राह्मण विद्वान को नियुक्त करके उनके द्वारा ब्राह्मण वर्ण की बौद्धिक पराजय का भी संकेत किया गया।

प्राय: तीस वर्ष अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के उपरान्त ७२ वर्ष की आयु में ई०पू० ५२७ में कार्तिक कृष्ण अमावस्या को पावा नामक ग्राम में महावीर ने निर्वाण लाभ किया अर्थात् इस नश्वर शरीर को सदा के लिये त्याग दिया और उनकी आत्मा आवागमन के बन्धन से मुक्त हो गई।

बौद्ध ग्रन्थों में उन्हें "निगण्ठ नातपुत्त" अर्थात् "निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र" के नाम से सूचित किया गया है। "ज्ञातृपुत्र" उनके वंशकुल का बोध कराता है, परन्तु

"निर्ग्रन्थ" विशेषण उनके व्यक्तित्व का परिचय देता है। निर्ग्रन्थ का अर्थ यह किया जाता है कि महावीर समस्त बाह्य एवं आन्तरिक बन्धनों से मुक्त थे। बाह्य रूप से वह निर्वस्त्र रहते थे और किसी प्रकार के सांसारिक परिग्रह से बंधे हुये नहीं थे, यहां तक कि वह अपनी भौतिक देह से भी ममत्व त्याग चुके थे। आन्तरिक दृष्टि से भी वह सब कर्मबन्धनों से मुक्त हो चुके थे और ज्ञान की चरम स्थिति को प्राप्त कर चुके थे जहां कुछ और जानना या अनुभव करना शेष नहीं रह जाता। परन्तु इस शब्द का यह शाब्दिक अर्थ कि वह ग्रन्थ (पुस्तक) रहित थे, भी अपने में महत्वपूर्ण हैं और संभवत: यह वह सूचित करता है कि उन्होंने प्रचलित परम्पराओं को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था और किसी भी ग्रन्थ को अपने सिद्धांतों या शिक्षा का आधार नहीं बनाया था। यह ब्राह्मणवाद पर गहरा आघात था क्योंकि ब्राह्मणीय परम्परा ने वेदों की आर्षता के आड़ में ही अपने धार्मिक आडम्बर की एवं समाज में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने की व्यवस्था की थी।

ब्राह्मणीय सत्ता का उच्छेद करने के सबल साधनों के रूप में महावीर ने अपनी शिक्षाओं को जनभाषा में प्रचारित किया और याज्ञिक हिंसा के विरोध में अहिंसा के आदर्श का निरूपण किया। इसी अहिंसा के सिद्धांत ने समाज में फैले ब्राह्मणों के आतंक पर सैद्धांतिक प्रहार किया और समाज में व्यवस्था के लिये सत्ता एवं आतंक के स्थान पर करुणा एवं सद्भाव की आवश्यकता पर बल दिया। एक क्षत्रिय द्वारा आत्म तत्व का विवेचन ब्रह्माणीय वर्ण-व्यवस्था के लिये एक चुनौती था और जब ब्राह्मणों ने उसके आध्यात्मिक नेतृत्व को स्वीकार कर लिया तथा उसके एक शूद्र शिष्य को भी गुरू रूप में ग्रहण कर लिया तो वर्ण-व्यवस्था का आधार ही डगमगा गया। इसके साथ ही महावीर द्वारा जन्म के स्थान पर कर्म के आधार पर वर्ण का निर्णय किये जाने के आदेश ने भी वर्ण-व्यवस्था को भारी आघात पहुंचाया। महावीर की इस नीति ने कि कोई भी किसी भी आयु में प्रव्रज्या ग्रहण कर सकता है, ब्राह्मणों द्वारा निर्दिष्ट आश्रम व्यवस्था को भी भारी ठेस पहुंचाई।

महावीर का बाह्य क्रान्तिकारी रूप निवृत्ति, पूर्ण अपरिग्रह, जनसाधारण की बोली को अपनाने और अपने अनुयायियों के संघ को गणतन्त्रीय प्रणाली के आधार पर संगठित करने में प्रकट होता है। उनके साम्यवाद का व्यक्त रूप उनका समवशरण था। समवशरण उस सभा का नाम होता था जिसमें वह उपदेश

दिया करते थे। इस सभा में हर कोई बिना किसी भेदभाव के आ सकता था और उनके उपदेश को सुन सकता था तथा उससे सभी समान रूप से लाभ उठा सकते थे। समान रूप से सबको उन्नति करने का अवसर प्रदान करने के कारण ही उनके द्वारा उपदिष्ट सभाओं का नाम समवशरण पड़ा प्रतीत होता है।

क्रान्तिकारी सिद्धान्त

उनके द्वारा उपदिष्ट क्रान्तिकारी सिद्धान्त थे– अहिंसावाद, कर्मवाद, साम्यवाद और स्याद्वाद। उनके द्वारा प्रतिपादित **अहिंसावाद** को सामान्यत: प्रेम का सिद्धान्त कहा जा सकता है। उसका तात्पर्य था कि किसी भी प्राणी को क्लेश नहीं पहुंचाना चाहिये। क्लेश पहुंचाने पर प्रत्येक प्राणी को समान रूप से कष्ट होता है। जिस बात से हमें कष्ट होता है वह हम दूसरे के प्रति भी न करें, दूसरों को जीवित रहने का पूर्ण अवसर दें और जहां तक बन पड़े दूसरों के कष्टों का निवारण ही करें, न कि उन्हें कष्ट पहुंचायें। ऐसी नीति से हमारा किसी से विरोध नहीं होगा और सबसे मैत्री रहेगी। जब हम किसी को कष्ट नहीं पहुंचायेंगे तो हमें दूसरे के प्रतिघात की आशंका कम रहेगी और इस प्रकार हमारी मानसिक शान्ति भी बराबर बनी रहेगी। आज के विश्व में जो भयभावना दीख पड़ती है वह प्रतिघात की आशंका का ही परिणाम है। यदि हम अपने व्यवहार से इस आशंका को कम कर दें तो विश्व शान्ति की समस्या का हल सरल हो सकता है।

महावीर का **कर्मवाद** मनुष्य को सतत कर्मशील होने के लिये प्रेरित करता है। इस कर्मवाद के अनुसार एक प्रकार की आशावादिता का उदय होता है और स्वनिर्भरता आती है। जो कुछ भी हम है वह अपने ही किये हुये के अनुसार हैं। कोई बाह्य शक्ति हमें संचालित नहीं करती वरन् हमारे स्वयं अपने ही अच्छे या बुरे कर्म जो कुछ हम है उसके लिये उत्तरदायी हैं। अच्छे कर्मों का सम्पादन अहिंसा के सिद्धान्त पर चलने से होता है। कोरी भाग्यवादिता अथवा निराशावादिता के लिये महावीर के कर्मवाद में कोई स्थान नहीं है। आत्म शक्ति पर पूर्ण निर्भरता और भविष्य में पूर्ण उन्नति की आशा ही इस कर्मवाद का निष्कर्ष है।

महावीर का **साम्यवाद** आर्थिक साम्यवाद नहीं था वरन् वह आध्यात्मिक आधार से था। परन्तु उसका व्यवहारिक रूप वर्ण-व्यवस्था के आधार को अवश्य आन्दोलित करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार सब आत्मायें समान हैं, सभी आत्माओं में उन्नति करने की समान क्षमता है और सभी अन्ततः मोक्ष प्राप्त

कर सकती हैं। जन्म के आधार पर असमानताओं को निर्मूल सिद्ध करने के लिये इस सिद्धान्त से प्रबल समर्थन मिलता था।

स्याद्वाद के सिद्धान्त के अनुसार कोई भी कथन पूर्ण सत्य नहीं है वरन् आपेक्षिक सत्य है। इस सिद्धान्त से सह-अस्तित्व को बल मिलता है और विभिन्न विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित करने का मार्ग मिलता है। स्याद्वाद में विषय विवेचन की जो पद्धति बतलाई गयी है उसे जैन दर्शन की सैद्धान्तिक दुर्बलता का लक्षण कुछ आलोचकों ने माना है, परन्तु यह भ्रमवश है। इस सिद्धान्त का आशय चिन्तन में परीक्षा प्रधानता को बल देना है और यह सूचित करना है कि जो कुछ हम देखते हैं या अनुभव करते हैं वह सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं।

संघ

अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए महावीर ने एक संघ का गठन किया जिसके चार अंग क्रमश: साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका थे। साधु और साध्वी गृहत्यागी होते थे और वे अपने ज्ञान एवं आचरण से गृहस्थ श्रावक एवं श्राविकाओं का मार्ग निर्देशन करते थे। यह साधु-साध्वी संघ बहुल जनता के लिये आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में वही महत्व रखता था जैसा कि ब्राह्मणीय व्यवस्था में ब्राह्मण। परन्तु अन्तर यह था ब्राह्मण उससे अपना अर्थ साधन करता था जबकि ये गृहत्यागी साधु-साध्वी पूर्ण रूप से निष्परिग्रह होकर स्व-पर कल्याण में रत रहते थे और किसी प्रकार का सांसारिक अर्थ साधन नहीं करते थे। इन साधु-साध्वियों के लिए यह आदेश था कि वर्षा के चार मासों को छोड़कर वे किसी भी स्थान पर ५-७ दिन से अधिक निवास नहीं करेंगे, बस्ती के बाहर ही ठहरेंगे, केवल आहार लेने के लिये बस्ती में जायेंगे, अपने पास किसी प्रकार का कोई परिग्रह नहीं रखेंगे और निरन्तर सब प्राणियों के हित और सुख के लिए भ्रमण करेंगे।

श्रुत

जो उपदेश महावीर ने दिये उन्हें श्रुत के नाम से जाना जाता है क्योंकि वे तीर्थंकर के मुख से सुने गये। तीर्थंकर को जो ज्ञान था वह स्वानुभूत था। श्रुत या आगम के चार भाग माने जाते हैं जो क्रमश: प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रथमानुयोग में अनुश्रुतिगम्य ६३ महापुरुषों के जीवन चरित्र हैं। करणानुयोग में लोक के स्वरूप का वर्णन है।

चरणानुयोग में गृहस्थ एवं गृह त्यागियों के आचार के नियम हैं, और द्रव्यानुयोग में पदार्थ के स्वरूप का निरूपण है। इस श्रुत को १२ अंग, १४ पूर्व एवं १६ प्रकीर्णकों में भी विभक्त किया गया है।

दर्शन

दार्शनिक क्षेत्र में महावीर ने जो स्थापनायें कीं वे विशिष्ट हैं। उन्होंने सृष्टि को अनादि अनन्त माना और लोक की संरचना में आधारभूत ६ द्रव्य माने। ये द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल हैं। जीव आत्मा सहित और पुद्गल आत्मा रहित पदार्थ हैं। धर्म और अधर्म क्रमश: गति और विराम के सिद्धान्त हैं। आकाश इस लोक का परिकर है और काल लोक में अन्य द्रव्यों के सतत परिणमन का आधार है। इस लोक की स्थिति का आधार उक्त छह द्रव्यों के परिणमन की अपेक्षा से है।

जीव का लक्षण चेतना है जो अमूर्त है। इसको एक विशिष्ट सत्ता माना गया है जिसमें नैसर्गिक विशुद्ध अवस्था में अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-वीर्य और अनन्त-सुख की कल्पना की गई है। तद्नुसार अपनी उस अवस्था में जीव के जानने और अनुभूति करने की क्षमता असीम होती है और वह असीम शक्ति से समन्वित होकर असीम आनन्द का उपभोग करता है क्योंकि वह स्वतंत्र होता है और पुद्गल से उसका संसर्ग नहीं होता। पुद्गल जीव को इस संसार में आवागमन के लिये बाध्य करता है। कर्म पुद्गल का ही रूप है और कर्म के आश्रय से ही जीव संसार के बन्धन में आता है। अत: जीव की मुक्ति के लिये कर्मरुपी पुद्गल से अपने को विलग करना आवश्यक है। उसी हेतु वीतराग गुण का आरोपण मुक्त जीव में किया गया। इस सैद्धान्तिक प्रस्तावना का उद्देश्य जीव के सम्बन्ध में चिन्तन को उस दिशा की ओर ले जाने का प्रतीत होता है जहां उसे समस्त चुम्बकीय शक्ति से विहीन एक विशुद्धत: उदासीन ऐसे सिद्धान्त के रूप में सूचित किया जा सके जो न तो स्वयं में परिणमनशील हो और न ही किसी अन्य अवलम्ब, आधार या अपेक्षा से परिणमनशील हो सके।

पुद्गल का आधार उसका सूक्ष्मतम कण परमाणु सूचित किया गया और उस परमाणु में अपरिमित शक्ति की कल्पना की गई। द्रव्यों का परिणमन उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के आधार पर सूचित किया गया, और इन सभी द्रव्यों को अनादि और अनन्त सूचित किया गया।

एक दार्शनिक प्रतिपत्ति यह भी रक्खी गई कि वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है। इस प्रतिपत्ति के अनुसार जीव और जगत की कल्पना को संभवत:

प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर निरूपित करने की चेष्टा की गई और इस प्रकार परीक्षा-प्रधानता की आवश्यकता पर बल दिया गया।

आचार का जो सभी के लिये ग्राह्य मार्ग बताया गया उसके आधारिक तत्त्व अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य हैं। इन्हीं की विशद व्याख्या दस-धर्म के नाम से की गई। ये दस-धर्म उत्तम-क्षमा, उत्तम-मार्दव, उत्तम-आर्जव, उत्तम-शौच, उत्तम-सत्य, उत्तम-संयम, उत्तम-तप, उत्तम-त्याग, उत्तम-आकिंचन्य और उत्तम-ब्रह्मचर्य हैं। गृहत्यागी साधु-साध्वियों के लिये इनका पालन चरमी सीमा को पहुंच जाता है, परन्तु गृहस्थ श्रावक-श्राविकायें इनका पालन यथासाध्य कर सकते हैं।

मोक्षमार्ग के रूप में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चारित्र का विधान किया गया। सम्यक् दर्शन से तात्पर्य जीव के शुद्ध स्वरूप की अनुभूति, सम्यक् ज्ञान से तात्पर्य जीव के शुद्ध स्वरूप की प्रतीति और सम्यक् चारित्र से तात्पर्य जीव के उस शुद्ध स्वरूप की क्रमिक प्राप्ति से है। जीव अपने शुद्ध स्वरूप को तभी प्राप्त कर सकता है जब नये कर्म परमाणु उससे आकर्षित न हों (आस्रव) और जो कर्म परमाणु अभी उससे चिपटे हैं वे छूट जायं (निर्जरा)। कर्म बन्धन से मुक्त विशुद्ध जीवात्मा ही परमात्मा है और अपने उस नैसर्गिक रूप में वह न तो किसी का उपकार कर सकती है और न अपकार, ना ही वह किसी को दण्ड दे सकती है और ना ही किसी को पुरस्कृत कर सकती है। वह पूर्ण वीतराग है, न उसमें राग है न द्वेष है अर्थात् न आकर्षण की शक्ति है और ना ही विकर्षण की शक्ति है। ऐसी अवस्था में जैन दर्शन के अनुसार भक्ति का आधार अन्य भक्ति विषयक चिन्तनों से विशिष्ट हो गया और इसका एकमात्र उद्देश्य उन जीव आत्माओं का स्मरण करना हो गया जो विशुद्ध आत्मत्व प्राप्त कर चुकी हैं ताकि उनको स्मरण करने वाला भी उन गुणों का आचरण करके परमात्मत्व प्राप्त कर सके। यह गुण चिन्तन हुआ और इसका आधार भावात्मक और आलौकिक रहा।

उपरोक्त दार्शनिक चिन्तन में बहुत कुछ ऐसा है जो अन्य चिन्तनों से विशिष्ट है और वर्तमान वैज्ञानिक उपलब्धियों का भी कुछ अंशों में पूर्वाभास देता है। इस दर्शन और चिन्तन के जो प्रस्तोता महावीर के बाद हुये उन्होंने अहिंसा पर अपने आग्रह को विशेष रूप से पुष्ट किया और जैन आचार के कथित स्वरूप को प्रायः अक्षुण्ण रक्खा। परन्तु जिस सामाजिक क्रान्ति का उद्घोष उस

चिन्तन में था वह शनैः शनैः क्षीण होता गया प्रतीत होता है और वर्तमान में जैन समाज का जो रूप मिलता है वह जैनेतर तथा-कथित हिन्दू समाज के रूप से प्रायः भिन्न नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन धर्म को स्थित रहने के लिये ब्राह्मणीय समाज व्यवस्था से समझौता करना पडा और इसका कारण यह भी हो सकता है कि जैनाचार्यों में अनेक ब्राह्मण भी थे और जो व्यवस्थायें उन्होने समाज के लिये दीं उनमें उनके ब्राह्मणीय संस्कार भी क्रियाशील रहे। यह एक चिन्तनीय तथ्य है कि जैन साहित्य के दर्शन पक्ष की विवेचना अधिकांश ब्राह्मणेतर आचार्यों ने की है और उसके आचार, पुराण एवं कथा साहित्य सम्बन्धी पक्ष के प्रणयन में ब्राह्मण आचार्यों का योगदान रहा है।

परम्परा

जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है, महावीर वेद-बाह्य दार्शनिक परम्परा से सम्बद्ध थे। यह परम्परा श्रमण और व्रात्य नामों से भी जानी जाती है और इसका आग्रह निवृत्ति, वैराग्य एवं तपस्या पर था। इस परम्परा की प्राचीनता उतनी ही है जितना कि मानव चिन्तन। जैन अनुश्रुति के अनुसार इस परम्परा में चौबीस तीर्थंकर अर्थात् संसार से मुक्ति का मार्ग बताने वाले हुये। इनमें प्रथम ऋषभदेव थे जिनका उल्लेख वेदाश्रित परम्परा में भी मिलता है। बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि कृष्ण के ताऊजात भाई थे। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्व महावीर से २५० वर्ष पूर्व काशी जनपद में हुये थे। तथापि जैन संघ का जो ऐतिहासिक रूप मिलता है और जैन दर्शन के बारे में जो ज्ञातव्य उपलब्ध है वह महावीर की अपेक्षा से ही है।

ऐसा माना जाता है कि महावीर ने पार्श्व के अनुयायियों का संगठन किया और पार्श्व द्वारा प्रचारित चातुर्याम धर्म की व्याख्या एवं उसका संशोधन व परिष्कार करके जैन धर्म एवं दर्शन को नया रूप प्रदान किया। महावीर सर्वज्ञ और केवलि थे, ऐसा उनके अनुयायी मानते हैं। परन्तु उनकी यह सर्वज्ञता सापेक्ष थी और उनके समकालीन जो अन्य चिन्तक थे वे सब उनकी सर्वज्ञता को स्वीकार नहीं करते थे, यहां तक कि उनके एक शिष्य मक्खलि गोशाल ने उनके जीवन काल में ही संघभेद उपस्थित कर दिया। गोशाल ने स्वयं अपने को तीर्थंकर घोषित कर दिया और उसके अनुयायी आजीवक कहलाये। महावीर के बाद उनकी परम्परा में जो श्रुतकेवलि हुये उनमें से अन्तिम भद्रबाहु प्रथम माने जाते हैं जो प्रायः महावीर निर्वाण के डेढ़ सौ-पौने दो सौ वर्ष उपरान्त हुये बताये जाते

हैं। श्रुतकेवलि का अर्थ है कि उन्हें महावीर द्वारा उपदिष्ट सम्पूर्ण ज्ञान परम्परा रूप से प्राप्त हुआ था। इनके बाद के आचार्यों को वह सब परम्परागत ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। इन्हीं के समय में जैन संघ में महत्वपूर्ण संघ-भेद उपस्थित हुआ और कालान्तर में दिगम्बर तथा श्वेताम्बर नामक दो सम्प्रदायों में संघ विभाजित हो गया। दिगम्बर सम्प्रदाय आचार के मामले में कट्टरपंथी रहा और सैद्धान्तिक दृष्टि से भी चरम आदर्श के निर्वाह के लिये उसने कुछ स्थापनायें कीं जैसे कि स्त्री को मुक्ति नहीं मिल सकती और केवलि को आहार की आवश्यकता नहीं होती। इनका मुनि का आदर्श पूर्ण निष्परिग्रही दिगम्बर वेश है और इसी रूप में वे अपने तीर्थंकरों को उपास्य मानते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने देश-काल की स्थिति के अनुसार अपने आचार के नियम कुछ शिथिल कर दिये और सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से भी उन्होंने कुछ ढील दी ताकि वे जनप्रिय हो सकें। उन्होंने साधुओं को वस्त्र धारण करने की अनुमति दी और तीर्थंकर के तपस्या-पूर्व जीवन को भी उपास्य माना। इस संघभेद का एक प्रतिफल यह हुआ कि जैन आगम का संकलन किया जाने लगा और जैनों में सरस्वती आन्दोलन का प्रवर्तन हुआ।

मूर्ति विधान और पूजा पद्धति के विकास के साथ-साथ दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में मन्दिर मार्ग का प्रचलन हुआ। तीर्थंकर प्रतिमा जो प्रारम्भ में कुछ चिन्हों द्वारा सूचित की जाती थी, धीरे-धीरे प्राय: एक ही रूप के दिगम्बर मानवाकार में उत्कीर्ण की जाने लगी और उसका विकास सम्प्रदाय विशेष की आवश्यकताओं के अनुरूप होने लगा तथा उसके साथ मनुष्य की सहज भयभावना की अपेक्षा से एक देव-समूह का भी विकास हुआ। मध्यकाल में इस्लाम के प्रादुर्भाव के पश्चात् विशेषत: भारत के पश्चिमोत्तरीय भागों में मूर्ति पूजा के बिना उपासना की पद्धति का विकास करने के प्रयत्न किये गये और फल स्वरूप स्थानकवासी एवं तारणपंथी सम्प्रदाय अस्तित्व में आये। श्वेताम्बर स्थानकवासियों में कालान्तर में और भी भेद-प्रभेद हुये जिनमें से एक तेरापंथ है। दिगम्बरों में देश-काल की स्थिति के अनुसार भट्टारक प्रथा का प्रचलन मुस्लिम आधिपत्य काल में हुआ और भट्टारकों के अनुयायी बीस-पन्थी कहलाये। परन्तु जिन लोगों को भट्टारकीय आचारगत शिथिलता रुचिकर नहीं थी उन्होंने तेरह-पन्थी शुद्ध आम्नाय का प्रतिपादन किया।

निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन में महावीर के चिन्तन को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और

सैद्धान्तिक उपलब्धियों का परिचय दिया गया है। इस चिन्तन की मौलिकता सृष्टि कर्ता के निषेध, सृष्टि को अनादि एवं अनन्त मानने, सृष्टि के आधारभूत कतिपय प्रवाहमान सिद्धान्तों की कल्पना, भौतिक सृष्टि क्रिया की निरपेक्षता के प्रतिपादन, वस्तु के स्वरूप को उसका धर्म जानने, जीव की पुद्गल से अलग सत्ता सूचित करने, विशुद्ध आत्मा के वीतराग स्वरूप की कल्पना, आवागमन के लिये कर्म पुद्गल की कल्पना, और सापेक्षवाद के सिद्धान्त, में निहित है। आचार पक्ष में इस चिन्तन का विशेष आग्रह अहिंसा, वैराग्य और मुक्ति पर रहा जिसने अभ्युदय के स्थान पर निःश्रेयस को जीवन का लक्ष्य सूचित किया। इससे भौतिक प्रक्रिया के प्रति वैज्ञानिक जिज्ञासा प्रेरित करने में यह चिन्तन सफल नहीं हो सका तथापि जो अन्वेषण आध्यात्मिक दृष्टि से किये गये वह आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों का कितने ही अंशों में पूर्वाभास कराते हैं। कालान्तर में इस चिन्तन का सामाजिक पक्ष सबल नहीं रह सका और वर्तमान में जैनों की सामाजिक विचारणा प्रायः जैनेतर ब्राह्मणीय विचारणा से बहुत भिन्न नहीं है। तथापि महावीर के समग्र चिन्तन की समर्थता ने उसे अभी भी भारतीय सांस्कृतिक परिवेश में एक विशिष्ट स्थान दिया हुआ है।

(पृष्ठ २ का शेष)

सव्वं जगं तु समयाणुपेही।

जगत के सभी प्राणियों को समभाव से देखो।

सव्वेसिं जीवियं पियं।

सभी को अपना जीवन प्रिय है।

सव्वेहि भूएहिं दयाणुकंपी।

सभी प्राणियों पर दया करनी चाहिये।

दयासमो न य धम्मो, अन्नसमं नत्थि उत्तमंदाणं।
सच्चसमा न य कित्ती, सीलसमो नत्थि सिंगारो॥

दया समान धर्म नहीं है, अन्नदान से उत्तम दान नहीं है, सत्य समान कीर्ति नहीं है और शील से अधिक श्रेष्ठ कोई श्रृंगार नहीं है।

कोहोपीइ पणासइ, माणोविणय णासइ।
माया मित्ताणि णासइ, लोभो सव्वविणासणे॥

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय समाप्त कर देता है, माया (छल कपट) मैत्री की नाशक है और लोभ सर्वविनाशक है। ★

कुलचन्द्र नाम के आचार्य

—इतिहास-मनीषी स्व० डा० ज्योति प्रसाद जैन

शिलालेखों और प्रशस्ति संग्रहों आदि में कुलचन्द्र नाम के जिन जैनाचार्यों का उल्लेख मिला है उनका संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत है—

(१) **कुलचन्द्र देव 'मुनिप-सिद्धान्तविद्यानिधि'**—जो उन चारित्रजलनिधि-सिद्धांतअम्बुधिपारग कुलभूषण यतिप के शिष्य थे जिनके सधर्मा प्रभाचन्द्र पण्डित थे जिन्होंने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, शब्दाम्भोजभास्कर आदि ग्रन्थों की रचना की थी। उक्त कुलभूषण यतिप के गुरु आविद्धकर्ण कौमारव्रती पद्मनन्दि सैद्धांतिक थे जो गोल्लाचार्य के शिष्य थे, इन कुलचन्द्रदेव का समय लगभग ११वी शती है।

(श्रवणबेलगोल शिलालेख संख्या ४०; जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, वीर सेवा मन्दिर, भाग-१, पृ० ६७)

(२) **कुलचन्द्रगणि**— जो नवपदलघुवृत्ति और नवपदप्रकरण के रचयिता थे। इनका अपरनाम जिनचन्द्रगणि और देवगुप्ताचार्य भी मिलता है। ये श्वेताम्बर आचार्य थे और इनका समय भी ११वी शती है।

(३) **कुलचन्द्र**—जो शुभचन्द्र के गुरू थे और उदयगिरि (उड़ीसा) की गुफाओं में निवास करते थे। इनका उल्लेख उद्योतकेसरी (समय ११वी शती) के लेख में हुआ है। ये देशीयगण के आचार्य थे।

(जैन शिलालेख संग्रह, भाग II, 245;
A.S.I. Annual Report 1902-3;
अनेकान्त 10, 4, 133)

(४) **कुलचन्द्र देव**—जो मूलसंघ-काणूरगण के परमानन्दि (या रामनन्दी?) सिद्धान्तदेव के शिष्य थे। इन्हें शक संवत् ९९६ (विक्रम संवत् ११३१ अर्थात् १०७४ ई०) में चालुक्य नरेश भुवनैकमल्ल के राज्य में उक्त राजा के बन्दनिके तीर्थ के शान्तिनाथ जिनालय के लिये नागरखंड में भूमि दान की गई थी।

(जैन शिलालेख संग्रह, भाग II, 207;
एपिग्राफिया कर्णाटका VII, सिलिकरपुर 221)

(५) **कुलचन्द्र सिद्धान्तदेव**— जो मूलसंघ-देशीयगण-पुस्तकगच्छ-कुन्दकुन्दान्वय के थे और जिनके शिष्य माघनंदिदेव सैद्धान्तिक तथा प्रशिष्य मण्डविमुक्त व्रतीश थे जिन्हें कि शक संवत् १०६० (वि० सं० ११९५ अर्थात् ११३८ ई०) में

विष्णुवर्द्धन होयसल के राज्यकाल में सिन्दङ्गेरे की बसदि के लिये दान दिया गया था।

(जैन शिलालेख संग्रह, भाग III, 307;
एपिग्राफिया कर्णाटिका-चिकमगलूर, 161)

शक संवत् १०४५ (वि० सं० ११८० अर्थात् ११२३ ई०) के शिलालेख (जै०शि०सं० भाग II, 280; इण्डियन एण्टीक्वेरी XIV, पृ० १४-२६) में उल्लिखित माघनंदि सैद्धान्तिक के गुरू कुलचन्द्रदेव यतिप तथा शक संवत् १०७३ (वि० सं० १२०८ अर्थात् ११५१ ई०) के शिलालेख (जै०शि० सं० भाग III, 334; एपिग्रेफी इण्डिका III, सं० 28) में उल्लिखित दान प्राप्तकर्ता माघनंदि सिद्धान्तदेव के गुरू कुलचन्द्र मुनि भी यही प्रतीत होते हैं।

(टिप्पणी— प्रस्तुत लेख इतिहास-मनीषी स्व० डा० ज्योति प्रसाद जैन के 'ऐतिहासिक व्यक्तिकोश' की पाण्डुलिपि में संकलित सामग्री से व्यवस्थित किया गया है। —रमा कान्त जैन)

भगवान महावीर जन्म-स्तुति

जग नाथ आये भव्य तारक,
देव मुनि जन रञ्जनम्।
प्रणमामि पुनि-पुनि शीष नत,
जिन देव त्रिशला नन्दनम्॥
सुख कर मनोहर रूप लख,
गद् गद् सिद्धारथ राज हैं।
कुन्डल पुरी में सज रहे,
घर घर में सुन्दर साज हैं॥
सुर इन्द्र दर्शन कर करें,
युग पद कमल में वन्दना।
गान मंगल गा रही हैं,
देवियां हर्षित मना॥
"दास" कर लो स्मरण,
प्रभु महावीर भव दुःख भञ्जनम्।
प्रणमामि पुनि पुनि शीष नत,
जिन देव त्रिशला नन्दनम्॥

प्रकाश चन्द्र जैन "दास"

काम्पिल्य

—श्री अमय प्रकाश जैन

महाभारत के अध्याय ९४, पृष्ठ ८१–८२ में लिखा है कि पांचाल की राजधानी काम्पिल्य थी जहां पांचाली द्रोपदी का स्वयंवर हुआ था। आज कल लोकप्रिय धारावाहिक "महाभारत" रविवार के दिन सभी दूरदर्शन पर देखते हैं। काम्पिल्य के इतिहास और पुरातत्व पर दृष्टिपात करना लेखक का अभिप्रेत है। उत्तर प्रदेश के जनपद फर्रूखाबाद की तहसील कायमगंज से १० किलोमीटर दूर गंगा नदी के तट पर काम्पिल्य नगरी बसी है। कम्पिल या काम्पिल्यपुरी भारत के अतिप्राचीन सोलह नगरों में से एक थी। वेदों में भी इसका उल्लेख है। माध्यान्दिन संहिता २३/१८ में काम्पिल शब्द अम्बा, अम्बालिका के साथ आया है—

अम्बे आम्बिकेअम्बालिके न मान यति कश्चन्।
स सत्यश्वक: सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम् ।।

शतपथ ब्राह्मण १३/५/४-७ के अनुसार पांचाल का प्राचीन नाम क्रिवि था तथा उसमें परिचक्रा एवं कम्पील दो पांचाल नगरों का भी वर्णन मिलता है। पांचाल राजाओं में कैव्य दुर्मुख शोम और प्रवाहण जैवालि का नाम मिलता है।

काम्पिल्य का नाम तैत्तिरीय सहिता ७/४/१९/१, मैत्रायिणी संहिता ३/१०/२०, कठक संहिता आश्वमिधिक ४/८, माध्यान्दिन संहिता ३३/१८, तैत्तिरीय ब्राह्मण (३/९/६), शतपथ ब्राह्मण (१३/२/८/३) आदि में देखने को मिलता है। उपनिषद साहित्य में वृहदारण्यक उपनिषद ६/१/१, छांदोग्य उपनिषद ५/३/१ तथा सांख्यायन श्रोतसूत्र १२/१३/५ में भी इसका उल्लेख मिलता है।

महाकवि बाल्मीकि ने स० २३ में ब्रह्मदत्त के प्रसंग में काम्पिल्य का वर्णन किया है। महाभारत के अध्याय ९४, पृष्ठ ८१/८२ तथा आदि पर्व, सर्ग १२८/३ में भी वर्णन है कि काम्पिल्य नगरी अतिसुन्दर थी तथा गंगा किनारे स्थित थी। आदि पर्व मे काम्पिल्य के साथ माकंदि नाम भी मिलता है।

माकंदि अथ गंगायास्तीरे जनपदयुतं ।
सोध्यावसद दीनमना काम्पिल्य च पुरोत्तमम् ।।

अष्टाध्यायी पर वामन जयादित्य ने काशिकावृत्ति लिखी थी। ४/२/१२१ वृत्ति

से स्पष्ट हैं कि काम्पिल्य तथा संकाश्य पास-पास बसे थे या एक ही नगर में थे।

संकाश्य (संकिसा) बौद्धमत का तीर्थस्थल है। आज भी सैकड़ों तीर्थयात्री देश, विदेशों से यहां आते हैं। आगरा-फर्रूखाबाद ब्रांच रेलवे लाइन पर पखना स्टेशन से ५ किलोमीटर दूर सराय अगहत गांव के पास संकाश्य के भग्नावशेष आज भी देखने को मिलते हैं। उ० प्र० शासन के पुरातत्व विभाग ने काम्पिल्य तथा संकाश्य दोनों को ही अपने संरक्षण में ले लिया है। कम्पिला में द्रोपदीकुण्ड, दो प्राचीन जैन मन्दिर तथा अन्य खंडहर हैं। द्रोपदीकुण्ड पर हर वर्ष मेला लगता है।

प्राय: सभी पुराणों में पांचाल तथा काम्पिल्य दोनों का ही उल्लेख है। श्रीमद्‌भागवत् में लिखा है कि राजा भम्यशिव के पुत्र का नाम काम्पिल्य था। उसी के नाम पर इस नगर का नाम काम्पिल्य रखा गया था। काम्पिल्य के पांचालादिक पांच पुत्र थे जिन्होंने इस प्रदेश को विजय किया तथा उसी के नाम से यह प्रदेश पांचाल कहलाया। कनिंघम का मत है कि क्रिवि, तूरूवसस, केसिन, श्रृंजयस और इक्षवाकु इन पांच क्षत्रियों के कारण यह देश पांचाल कहलाया। (ज्योग्राफी ऑफ एन्शियेन्ट इंडिया–नोट, पेज ७०५)

बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि भगवान बुद्ध के समय सोलह महाजनपद विद्यमान थे। गमध, कोसल, वत्स, अवंति, काशी, अंग, चेदि, कुरु, पांचाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्यक, गान्धार, काम्बोज, वैन्जेन तथा मल्ल।

पांचाल दो भागों में विभक्त हो चुका था–उत्तर पांचाल तथा दक्षिण पांचाल। उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्रपुर (जैन तीर्थ) तथा दक्षिण काम्पिल्य की राजधानी काम्पिल्य थी। बृह जातक की महधीर टीका में कम्पिला का सन्निवेश कायपित्थिक बताया है। कापित्थक आज कैथिया नाम से प्रसिद्ध है जो कम्पिला से २०/२१ मील दूर है। बनारस उस समय व्यापार का बड़ा केन्द्र था। कम्बोज, काम्पिल, कोसल, कुरूक्षेत्र, कुरू, कुशीनारा, कौशाम्बी, मिथिला, मथुरा, पांचाल, सिन्ध, उज्जैन, विदेह आदि के साथ बनारस का व्यापारिक सम्बन्ध था। (देखें इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ एन्शियेन्ट इंडिया, पृष्ठ १२२/१२३)

जैन साहित्य में काम्पिल्य का वर्णन बड़ा मनोहारी एवं प्राचीन है। जैन धर्म के तेरहवें तीर्थंकर श्री विमलनाथ स्वामी के चार कल्याणक, गर्भ, जन्म, तप तथा ज्ञान काम्पिल्य में ही हुये थे। विमलनाथ पुराण में इसका नाम कम्पिला

लिखा है।

तत्रैव कम्पिला नाम्ना विद्यते परमापुरी।
दोषैर्मुक्ता गुणैर्युक्ता धनाढयास्वर्ण सगृहा ।।

काम्पिल्य में इक्षवाकुवंश के कृत वर्मा नामक शासक थे। उनकी पत्नी का नाम जयश्यामा था। विमलनाथ जी का जन्म उन्हीं के गर्भ से हुआ। काम्पिल्य के खंडहरों में आज भी प्राचीनता की झलक स्पष्ट देखी जा सकती है। अति-प्राचीन जैन मन्दिर में सर्वतोभद्र खंडित जैन प्रतिमायें आज भी प्राचीनता की कहानी कह रही हैं। उ० प्र० शासन के पुरातत्व विभाग ने यहां संरक्षण का कार्य शुरू किया है।

उत्तर पुराण पर्व ५९ तथा हरिवंश पुराण सर्ग ६० में इसका मनोरम वर्णन है। हरिवंश पुराण में द्रुपद को माकंदी नामक नगर का शासक लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि संभवत: किसी काल में इसका नाम माकन्दी भी प्रसिद्ध रहा हो।

प्राप्ता मार्गवशाद्विश्वे माकंदी नगरी दिव:।
प्रतिच्छंदा स्थिति दिव्या दधाना देववि भ्रया: ।। १२० ।।
द्रुपदो स्था स्तदा भूप स्तस्थ भोग वती प्रिया।
धृष्ट धुम्नादय: पुत्रा प्रत्येक दृष्टशक्तया: ।। १२१ ।।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि काम्पिल्य, वर्तमान कम्पिल या कम्पिला इतिहास एवं पुरातत्व की दृष्टि से कन्नौज, अहिच्छत्रा, हस्तिनापुर नगरों से किसी भी प्रकार न्यून नहीं है, आवश्यकता है इसके अनुसंधान की ताकि नये तथ्य प्रकाश में आ सकें।

शब्द और भाषा

—कु० विभा जैन

"शब्द" का अर्थ ध्वनि है और इस निरूक्ति से शब्द ध्वन्यात्मक है। इस ध्वनि को अपने व्यावहारिक स्थैर्य के लिए मानव ने आकृतिबद्ध कर लिया है, अत: शब्द वर्णात्मक है। तर्कशास्त्रियों ने इसी बात का निर्वचन करते हुए लिखा है :—

"शब्दो द्विविध: । ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च । तत्र
ध्वन्यात्मको भेर्यादौ वर्णात्मकश्च संस्कृतभाषादिरूण:"

वस्तुत: "ध्वनि" शब्द का स्फोट है और वर्ण उसकी आकृतिपरक रचना है। मानव जाति का लोक-व्यवहार परस्पर बोलकर अथवा लिखकर चलता है। आज मानव अपने शब्दों एवं लिपिमयी भाषा के माध्यम से अपने विचारों का संकलन कर सकता है, अपनी वाणी को स्थिरता दे सकता है और दूर अथवा समीप प्रदेशों तक अपनी आवाज पहुंचा सकता है।

जैनमत के अनुसार भगवान आदिनाथ ने अपनी ब्राह्मी तथा सुन्दरी नामक दो पुत्रियों को वर्ण और अंक विद्या का उपदेश दिया था। इसीलिए भारतीय लिपि तथा भाषा को ब्राह्मी और भारती कहा जाता है।। वैदिकों के अनुसार ब्रह्म ने चिन्तन किया—"एकोऽहं बहु स्याम" अर्थात् मैं एक हूं और अनेक हो जाऊँ—इसी इच्छाशक्ति ने शब्द रूप में प्रथम जन्म लिया। अत: वह ब्रह्म भाषित होने से ब्राह्मी कही गयी। भाषाशास्त्रियों का मत है—धार्मिक भावना से विश्व की अन्य वस्तुओं की भाँति "ब्रह्मा" को इसका भी निर्माता मानते रहे हैं, और इसी आधार पर उसे ब्राह्मी कहा गया है।

आधुनिक भाषाविज्ञान के मनीषियों ने यह स्वीकार किया है कि "ऋग्वेद" सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ है और उसी की भाषा प्राचीनतम है। ऋग्वेद की वैदिक भाषा विकसित होती हुई संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि रूपों में अपना इतिहास बना चुकी है। अपभ्रंश की गोद में जिस भाषा का विकास हुआ, वह प्रारम्भिक हिन्दी या "देशभाषा" है। यह भी भाषाविदों का अभिमत है कि सम्पूर्ण मानवपरिवार कभी एक भाषा-भाषी था और अपने कौटुम्बिक आयामों के विस्तार के साथ भूमण्डल पर फैलता गया। वह मूल भाषा उसके

साथ विश्व में फैल गयी और दीर्घकाल के अनन्तर उन-उन परिवारों के देश, काल, संस्कार तथा परिस्थितियों के परिवेश को स्वीकार कर परिवर्तित होती गयी।

भाषा ने मनुष्य की अनेक समस्याओं का समाधान किया है। भौतिक और आत्मिक जगत में भाषा के राजमार्ग क्षितिज तक चले गये हैं। भाषा के रथ पर बैठकर भाव यात्रा करते हैं। भाषा भावों के आभूषण पहनकर महासम्राज्ञी की गरिमा धारण करती है। भावों के बिना भाषा विधवा है और भाषा के बिना भाव अमूर्त हैं। इनका परस्पर सहचारिभाव है। भावों के बिना भाषा चल नहीं सकती, यह तो खाली गाड़ी के समान है, यात्री तो भाव हैं, जिन्हें लेकर शब्द-गाड़ी को चलना होता है।

भाषा प्रयोक्ता के विचार आदि को श्रोता या पाठक तक पहुंचाती है। वह विचार-विनिमय का साधन होती है। भाषा अपने व्यापकतम रूप में वह साधन है जिसके माध्यम से हम सोचते हैं तथा विचारों या भावों को व्यक्त करते हैं।

देश-देश में अलग-अलग भाषाएं हैं। जो जिस देश का निवासी है वह उसी देश की भाषा बोलता है, वह स्वाभाविक है। तभी तो कहा गया है— "चार कोस पे पानी बदले आठ कोस पे बानी।" भाषा हर थोड़ी दूर पर मुख्य भाषा से भिन्नता लिये पायी जाती है। विश्व में सभी मनुष्यों का काम भाषा से चलता है। वह भाषा उसके व्यवहार साधन में उपयोगी है, किन्तु साध्य नहीं। जब कोई उसे साध्य मानकर स्वयं साधन बन जाता है, तो कलह का सूत्रपात हो जाता है। भाषा में अपनी संस्कृति का इतिहास अंकित है और आत्मीयता के सूत्र लिखे हैं। अपनी-अपनी मातृभाषा के प्रति व्यक्तियों का आग्रह एवं व्यामोह सहज होता है। किन्तु आग्रह को इतनी रूढता तक नहीं ले जाना चाहिए कि वह वैर, कलह और वैमनस्य की भूमि बन जाए। जैसे गाड़ी में दो भिन्न भाषा-भाषी यात्री यात्रा करते हैं और अपनी मन्जिल को प्राप्त करने पर एक दूसरे को भूल जाते हैं, यही स्थिति भाषा की है। भावों को अभिव्यक्त करने के उपरान्त भाषाओं की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। अतः भाषाएं साधन हैं और व्यक्ति उनसे उपयोग लेने वाला उपभोक्ता है।

भाषा लोक-व्यवहार में आकर परिमार्जित होती है। भाषा की समृद्धि उसके उपभोक्ता पर है। उपभोक्ता जिस क्षेत्र में प्रगतिशील होंगे, भाषा और

(शेष पृष्ठ २० पर)

अग्रवाल जाति और जैन धर्म

—अजित प्रसाद जैन

अग्रवाल जाति के मूल पुरुष महाराजा अग्रसेन माने जाते हैं तथा उनके द्वारा प्रतिष्ठापित सामाजिक मूल्यों को अग्रवालजन अपने जीवन का आदर्श मानते हैं।

महाराजा अग्रसेन तथा उनकी वंशावली का वृत्तांत महालक्ष्मी व्रत कथा तथा उरू चरितम् में मिलता है। इन ग्रंथों के अनुसार महाराजा अग्रसेन प्रताप नगर के राजा वल्लभ के पुत्र थे तथा उन्होंने अग्रोहा नगर एवं राज्य की स्थापना की थी। उन्होंने नगर के बीचोंबीच एक विशाल पुष्करणी बनवायी तथा विष्णु भगवान की प्रतिष्ठा में १८ यज्ञ किये, किन्तु जब अट्ठारहवां यज्ञ चल रहा था तो किसी निमित्त से उन्हें याज्ञिक हिंसा से विरक्ति हो गई तथा उन्होंने ब्राह्मणों एवं पुरोहितों के प्रबल विरोध के बावजूद वह यज्ञ बीच में ही छोड़ दिया तथा अहिंसा धर्म को ग्रहण कर लिया। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने महाराज अग्रसेन का समय १४०० ई० पूर्व से १२०० ई० पूर्व के बीच अनुमानित किया है। महालक्ष्मीव्रत कथा तथा उरू चरितम्, इन दोनों कृतियों के रचयिता अज्ञात

(पृष्ठ १९ का शेष)

उसकी शब्दनिधि उस विषय में अधिक प्रांजल तथा अधिकार सम्पन्न अभिव्यक्ति-पूर्ण होगी। लोक जीवन में ही आकर शब्द विविध रूप ग्रहण करते हैं। जैसे "सिंह" शब्द "हिंस" से बना है। हिंसाजीवी होने से पूर्व समय में इसे "हिंस" कहते रहे होंगे। कालान्तर में वर्ण विपर्यय हो गया, और हिंस शीर्षासन करने के कारण "सिंह" हो गया।

शब्दों का सावधानी से चयनकर हम दूसरों के मुख पर स्मित के फूल खिला सकते हैं और अवमानना के शब्दों से नेत्रों में अग्निज्वाला का आविर्भाव भी कर सकते हैं। कबीर दास जी ने ठीक ही कहा है :—

"ऐसी वाणी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होय ।।"

जो शब्द-शब्द को मोतियों के समान चुनते हैं वे गम्भीर-शास्त्र-समुद्रों में गहरी डुबकी लगाने वाले गोताखोर होते हैं। वे ही वाङ्मयप्रासाद को संवारते है, भारती मन्दिर में अर्चना के पुष्पोपहार समर्पित करते हैं। ★

नाम हैं तथा भाषा व शैली के आधार पर ये रचनायें अधिक से अधिक १८वी-१९वी शताब्दी की मानी जाती है जिन्हें अग्रवाल श्रेष्ठियों ने अपने वंश की प्रशस्ति में लिखाया होगा। महालक्ष्मीव्रत कथा का तो अपर नाम ही अग्रवैश्य वंशानुकीर्तम है तथा ग्रंथकर्ता ने स्वयं उसकी रचना वि० सं० १९११ में की लिखा है। उरू चरितम भी लगभग इसी काल की रचना मालूम पड़ती है। अत: इन रचनाओं में वर्णित तथ्यों की प्रामाणिकता संदिग्ध ही है। राजा वल्लभ के प्रताप नगर की पहिचान भी किसी स्थान से आज तक नहीं की जा सकी है।

एक अन्य जनश्रुति के अनुसार महाराज अग्रसेन हस्तिनापुर नरेश महाराज परीक्षत के कनिष्ठ पुत्र थे। नाग यज्ञ में हुई भारी हिंसा से परीक्षत के उत्तराधिकारी महाराज जनमेजय को हिंसा से ग्लानि हो गई और वे अपने लघु भ्राता अग्रसेन को राज्य सौंप कर सन्यासी होकर वन गमन कर गये। कदाचित् महाराज अग्रसेन ने सम्राट जनमेजय के पुत्र के वयस्क होने तक ही हस्तिनापुर राज्य की देखभाल की तथा उसके वयस्क होने पर अपने लिए अग्रोहा के स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली। आधुनिक इतिहासज्ञ विद्वान महाभारत युद्ध का काल ई० पू० १५०० मानते हैं। अत: इस अनुश्रुति के अनुसार भी महाराज अग्रसेन का काल ई० पू० १३००-१३५० बैठता है। किन्तु इस अनुश्रुति का भी कोई इतिहास सम्मत आधार अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

महाभारत के वन पर्व में महावीर कर्ण की दिग्विजय में आग्रेय गण का भी नाम आता है किन्तु उससे यह असंदिग्ध रूप से सिद्ध नहीं होता है कि महाभारत काल में आग्रेय गण राज्य मौजूद था क्योंकि ५००० श्लोक प्रमाण जय काव्य के १००,००० श्लोक प्रमाण महाभारत महाकाव्य में परिणत होने का काल विद्वानों ने ५०० ई० पू० से २०० ई० पू० के बीच का समय आंका है। अत: इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ४०० से ३०० ई० पू० में अग्रोहा गण एक प्रसिद्ध राज्य था। महाभारत काल में किसी गणतंत्रात्मक शासन व्यवस्था के राज्य का अस्तित्व नहीं था।

डा० राय चन्द गोविन्द के मतानुसार प्राचीन समय में अग्रगण राज्य का विस्तार पश्चिम में राजस्थान के फतहपुर, सीकरी, झुनझुन, दक्षिण में पंजाब के कुछ भाग तथा पूर्व में सहारनपुर तथा मेरठ व आगरा तक था। आज भी उपरोक्त क्षेत्र अग्रवाल बहुल हैं। किन्तु इतने विस्तृत क्षेत्र वाले आग्रेय राज्य के संस्थापक महाराज अग्रसेन के विषय में इतिहास के पृष्ठ मौन हैं। पंडित

परमानन्द शास्त्री का कहना है कि १७ यज्ञ कराने वाले विशाल राज्य के स्वामी महाराज अग्रसेन व उनकी वंश परम्परा का इतिहास-पुराणों में नामोल्लेख तक ना होना उनके विषय में प्रसिद्ध जनश्रुतियों की अप्रमाणिकता का द्योतक है।

सुप्रसिद्ध पुरातत्व वेत्ता डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने गवेषणा करके लिखा है कि महाराज अग्रसेन प्राचीन भारत के प्रसिद्ध राजवंश वैशालक वंश में उत्पन्न हुए थे तथा उन्होंने अग्रोहा के नवीन राज्य की स्थापना की थी। डा० अग्रवाल ने महाराज अग्रसेन को प्राचीन वैशाली गणतंत्र के लिच्छवी क्षत्रियों से सम्बद्ध बताया है। राजा विशाल द्वारा वैशाली के गणराज्य की स्थापना की गई कही जाती है। हमारा अनुमान है कि मगध सम्राट अजातशत्रु द्वारा ईसा पू० छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वैशाली गणतंत्र का विध्वंस किए जाने के उपरान्त कुछ लिच्छवी परिवार सुदूर पश्चिम में आकर बस गये होंगे और उन्होंने या उनके वंशजों ने वैशाली के गणतंत्र के अनुरूप ही आग्रेय गणतंत्र, जो वस्तुत: कुलतंत्र था, की स्थापना की होगी। डा० अग्रवाल के अनुसार अग्र जनपद के मुख्य संगठन का आधार १८ कुलों की संख्या थी। प्रत्येक कुल या गोत्र का एक कुलपति, स्थविर या व्रात्य होता था जो जनपद सभा मे उस कुल का प्रतिनिधित्व करता था। अग्र जनपद में संघीय शासन व्यवस्था थी तथा समय-समय पर राजा या राज प्रमुख का चुनाव हुआ करता था। कोई एक व्यक्ति या वंश ही सदा के लिए राजा नहीं होता था। राज प्रमुख संघसभा में सबसे ऊंचे स्थान पर बैठता था। राज्य के सभी महत्वपूर्ण निर्णय सर्वसम्मति या बहुमत से लिए जाते थे।

हम उपरोक्त वर्णन में अपना यह मत जोड़ना चाहेंगे कि यद्यपि आग्रेय गण राज्य के संस्थापक लिच्छवी कुमार अग्र थे जो इस गणराज्य के प्रथम राज्य प्रमुख बनने पर महाराज अग्रसेन का विरूद धारण कर राज सिंहासन पर बैठे, कालान्तर में यह आग्रेय गणराज्य के राज्य प्रमुख का पद नाम ही बन गया तथा गणाधिपति को महाराज अग्रसेन के नाम से ही सम्बोधित किया जाने लगा।

ब्राह्मण संस्कृति में गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के लिए कोई स्थान नहीं था। परिणाम स्वरूप पुराणों में केवल प्राचीन राजाओं तथा उनकी वंशावलियों के विवरण ही मिलते हैं। अत: महाराज अग्रसेन का पुराणों में वर्णन न मिलने से यह निष्कर्ष निकालना कि वे कोई कपोलकल्पित व्यक्ति थे, उचित नहीं है।

पुराणों में अन्य गणराज्यों के संस्थापकों एवं राज प्रमुखों के भी कोई वर्णन नहीं मिलते ।

ईसा पूर्व छठी या पांचवी शती में स्थापित आग्रेय गणराज्य ईसा पूर्व चौथी शती के आते-आते एक सशक्त विस्तृत एवं महत्वपूर्ण राज्य बन चुका था। सिकन्दर महान् से पंचनद के जिन गण राज्यों ने जबर्दस्त लोहा लिया तथा वापस लौट जाने को विवश किया उनमें अग्गलसेई (आग्रेय) के गण राज्य की भी एक प्रमुख भूमिका थी । अग्गलसेई की सेना में ४०,००० पैदल सिपाही, ३००० घुड़सवार तथा १०,००० हाथी थे । यूनानी इतिहासकारों ने अग्गलसेई के युद्ध का वर्णन करते हुए वहां के योद्धाओं के शौर्य की प्रशंसा की है । इस युद्ध में अग्गलसेई की वीर नारियों ने भी भाग लिया था । कहते हैं कि अग्गलसेई की एक वीर बाला के विषाक्त तीर की पीड़ा को सिकन्दर कभी नहीं भूल सका तथा अन्ततः समुद्र तट पर पहुंचते-पहुंचते यही घाव उसका जान लेवा सिद्ध हुआ था। इस युद्ध में अग्गलसेई नगर का पूर्ण विध्वंस हो गया तथा उसे जला कर राख कर दिया गया ।

विन्सेन्ट स्मिथ सहित कुछ इतिहासकारों का मत है कि अग्गलसेई तथा अग्रोहा आग्रेय गण राज्य के दो भिन्न नगर थे तथा अग्गलसेइ नगर अग्रोहा से लगभग ३०० मील की दूरी पर राज्य की पश्चिमी सीमा का नगर था। कुछ भी हो, चाहे अग्रोहा की स्थापना अग्गलसेइ के पतन के बाद की हो चाहे वह पहिले ही आग्रेय गण का एक नगर रहा हो, इतना सुनिश्चित है कि अग्गलसेइ के पतन के बाद अग्रोहा ही आग्रेय गण का प्रमुख नगर व राजधानी रहा ।

पुरातत्व विभाग द्वारा अग्रोहा के टीलों की जो सीमित खुदाई अभी तक की गई है, उससे सिद्ध हो गया है कि यहां एक सुनियोजित एवं समृद्धिशाली नगर बसा हुआ था । मकान पक्की ईंटों के बने हुए थे तथा एक निवास गृह दूसरे से अलग था । नगर के बीचोंबीच अग्रवालों की कुल देवी महालक्ष्मी के भव्य मंदिर सहित एक विशाल तालाब का निर्माण किया गया था । यह जलाशय हमें वैशाली में लिच्छवियों की अभिषेक पुष्करणी की याद दिलाता है । वैशाली में राजप्रमुख एवं कुलप्रमुख उक्त पुष्करणी के जल से अभिषिक्त होने के उपरान्त ही अपना नवीन पदभार ग्रहण करते थे । कदाचित् आग्रेय जनपद के राज प्रमुख तथा कुल प्रमुखों का अभिषेक करने के प्रमुख उद्देश्य से ही इस जलाशय का निर्माण किया गया होगा ।

महाराज अग्रसेन सनातन धर्मावलम्बी थे तथा उन्होंने विष्णु भगवान की प्रतिष्ठा में १८ यज्ञ किए थे। एक अनुश्रुति के अनुसार अपनी छोटी रानी पद्मावती (जो नाग वंश की राजकुमारी थी तथा अत्यन्त रूपवती होने के कारण जिसका दूसरा नाम सुन्दरावती भी दिया गया है) के दिगम्बर जैन गुरू के उपदेश से प्रभावित होकर महाराज अग्रसेन ने अपने कुटुम्बी जनों सहित अहिंसामयी जैन धर्म को अंगीकार कर लिया था तथा याज्ञिक हिंसा से पूर्ण विरत होकर ब्राह्मणों एवं पुरोहितों के प्रबल विरोध के बावजूद अपने १८वें यज्ञ को बीच में ही छोड़ दिया था।

महाराज अग्रसेन के पूर्वज एवं वंशज भी अधिकांशत: जैन धर्मावलम्बी ही थे। लिच्छवी क्षत्रियों का कुल धर्म जैन धर्म ही था। भगवान महावीर स्वामी स्वयं लिच्छवी क्षत्रिय थे तथा उनके जन्म के पूर्व से ही उनके पिता, पितामह श्रमण भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। आग्रेय गण के संस्थापक १८ कुल तथा उनके नायक भी अधिकांश प्रारम्भ से ही और शेष अन्ततोगत्वा जैन धर्मावलम्बी हो गए थे, यह डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के इस कथन से भी सिद्ध होता है कि आग्रेय गण की संघ सभा में भाग लेने वाले कुल प्रतिनिधियों को व्रात्य कहा जाता था। "व्रात्य" शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में पूर्वी अंचल के उन क्षत्रियों के लिए हुआ है जो श्रमण या जैन धर्मावलम्बी थे। वैदिक एवं ब्राह्मण साहित्य में "व्रात्य" उन जनों के लिए प्रयुक्त हुआ है जिनका वैदिकों से विरोध था। यजुर्वेद और तैत्तरीय ब्राह्मण व्रात्य को गोमेध के बैल के समान नरमेध में बलि का प्राणि कहते हैं।

चौधरी वृन्दावन कानूनगो, जिन्द, के मतानुसार महाभारत के वन पर्व के सोलहवें अध्याय में वर्णित जनपदों को मलेच्छ गण, नग्न जाति आदि घोषित किया गया है। विष्णु पुराण में नग्न जाति संज्ञा से जैनों का बोध कराया गया है। अत: महाभारत का यह श्लोक स्पष्ट करता है कि ये जनपद बुद्ध-महावीर के बाद स्थापित हुए। यह तो सर्व मान्य है कि एक बार सारे आग्रेय जैन धर्मी हो गए थे इसी कारण महाभारत व पुराणादि ग्रन्थों में इनको मलेच्छ तथा नग्न जाति लिखा गया।

महालक्ष्मी व्रत कथा में महाराज अग्रसेन के पूर्वजों एवं वंशजों की जो वंशावली दी गई है उसमें कई नाम ऐसे हैं जो केवल जैन परिवारों में ही पाए जाते हैं जैसे नेमिनाथ, विमल, नन्दिवर्धन।

डा० स्वराजमणि अग्रवाल अपने ग्रंथ "अग्रसेन-अग्रोहा-अग्रवाल" में लिखती हैं कि महाराज दिवाकर के बारे में अभी पूरी खोज नहीं हुई है। परन्तु वह जैन धर्मावलम्बी हुआ, इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता। महान् प्रभावक दिगम्बर मुनि लोहाचार्य एक बार विहार करते हुए अग्रोहा पधारे। उनका धर्मोपदेश सुनने के लिए अग्रवंशी राजा दिवाकर सहित अग्रोहा के अनेक गणमान्य जन इकट्ठे हो गए। मुनिराज ने सभी को श्रावक धर्म का उपदेश दिया। व्याख्यान सुनने के साथ ही सबका चित्त व्रत ग्रहण करने के लिए उतारू हो गया। पहिले महाराज दिवाकर ने अपने कुटुम्बियों के साथ श्रावक धर्म स्वीकार किया और पीछे उनकी देखादेखी सवालाख अग्रवालों के घर जैनी हो गए। पहले छान-कर पानी पीना, रात्रि में भोजन नहीं करना और देव दर्शन कर भोजन करना— ये तीन मुख्य व्रत जैनियों को बतलाए गए। उसी समय सवालाख अग्रवालों के घरों में छनने रखे गए। यह घटना सन् १४७ ई० के लगभग की मानी जाती है। समग्र धार्मिक क्रान्ति का इस प्रकार का द्रष्टान्त अन्यत्र कदाचित ही देखने को मिलेगा।

अग्रोहा के टीलों के उत्खनन में अन्य पुरावशेषों के साथ ५१ तांबे के चौकोर सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। इन सिक्कों में सामने की ओर वृषभ तथा पीछे सिंह या चैत्य वृक्ष की आकृति अंकित है। पं० परमानन्द शास्त्री के अनुसार यह अग्रोदक गण राज्य की जैन धर्मावलम्बिता के द्योतक हैं। सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता जनरल कनिंघम ने विदिशा (वेसनगर) के खंडहरों में मिले तांबे के सिक्कों पर अंकित वृषभ, सिंह, बोधिवृक्ष, हाथी तथा स्वस्तिक के चिन्हों को जैन प्रतीक बताया है तथा उन सिक्कों को जैन धर्म से प्रभावित राजाओं के सिक्के माने हैं। अग्रोहा के सिक्कों के पीछे ब्राह्मी अक्षरों में "अगोदके अगाच जन-पदस" शब्द अंकित हैं। जिनका अर्थ अग्रोदक के अगाच जनपद का सिक्का होता है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि ब्राह्मी लिपि का आविष्कार भगवान ऋषभ देव ने किया था तथा प्राचीन काल में श्रमण संस्कृति से प्रभावित राजाओं ने ही अपने अभिलेखों में मुख्यतया ब्राह्मी लिपि का उपयोग किया है जबकि वैदिक संस्कृति से प्रभाबित राजाओं ने देवनागरी लिपि का उपयोग किया है।

उत्खनन में एक अर्हन्त प्रतिमा तथा एक तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्ति भी प्राप्त हुई है। अभी हाल ही में अग्रोहा के समीप हासी के प्राचीन किले में खुदाई में प्राप्त ५७ तीर्थंकर प्रतिमाएं भी प्राचीन काल में इस क्षेत्र में जैन धर्मावलम्बियों

के बाहुल्य का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

किसी समय (लगभग १८०० वर्ष पूर्व) अग्रवाल जाति के सामूहिक रूप से जैन धर्म स्वीकार कर लेने में किसी प्रकार की अतिशयोक्ति इस कारण भी नहीं मालूम होती क्योंकि वैश्य समुदाय में सम्मिलित जातियों में अग्रवाल जाति प्राचीन काल से ही अपनी अहिंसामयी परम्परा तथा खानपान की शुद्धता के लिए प्रसिद्ध रही हैं। कालान्तर में अग्रवालवंशियों द्वारा क्षात्रवृत्ति को त्याग कर सामूहिक रूप से वैश्यवृत्ति अपनाना भी उनकी अहिंसामयी भावना के परिणाम स्वरूप सम्भव हुआ होगा। चौधरी वृन्दावन कानूनगो, जिन्द, लिखते हैं कि यह सर्वविदित है कि एक बार सारे आग्रेय जैन धर्मी हो गए थे तथा इसी कारण इन्हें महाभारत तथा विष्णु पुराण में मलेच्छ तथा नग्न जाति लिखा गया।

डा० स्वराजमणि अग्रवाल ने अपने ग्रंथ "अग्रसेन-अग्रोहा-अग्रवाल" के परिशिष्ट में "विभिन्न शताब्दियों में अग्रवाल" शीर्षक से लगभग ४० शिलालेखों, अभिलेखों, प्रशस्तिलेखों, मूर्ति लेखों तथा यंत्र लेखों के मूल उद्धरण दिए हैं जिनमें अग्रवाल श्रेष्ठियों, कवियों तथा साहित्यकारों के उल्लेख आए हैं। ये सभी अभिलेख ईसा की १२वी शताब्दी से १९वी शताब्दी पर्यन्त के हैं। इनसे निम्नलिखित तथ्य उजागर होते हैं :—

१. इनमें सबसे प्राचीन उल्लेख वि० सं० ११८९ का है जिसमें एक लब्ध प्रतिष्ठित अग्रवाल कवि ने योगिनीपुर (दिल्ली) के एक अग्रवाल जाति भूषण नगर के सेठ का वर्णन किया है। वैश्य समुदाय की किसी और जाति का इतना प्राचीन उल्लेख अभी तक कहीं नहीं मिला है। इससे सिद्ध होता है कि अग्रवाल जाति वैश्य समुदाय की सर्वाधिक प्राचीन, प्रमुख एवं श्री सम्पन्न जाति रही है।

२. नाम के साथ गोत्र का प्रयोग सर्वाधिक प्राचीन १४वी शती (१३५९ ई०) का मिला है—यथा 'अग्रोतकान्वये गोहिल गोत्रे"। इसके उपरान्त के अभिलेखों में जाति के साथ गोत्र का भी उल्लेख आम तौर से किया जाने लगा प्रतीत होता है।

३. डा० स्वराजमणि अग्रवाल द्वारा संग्रहीत सभी अभिलेखों में वर्णित अग्रवाल चाहे वे श्रेष्ठि हो, साहित्यकार विद्वान हो या कवि सभी जैन धर्मावलम्बी थे। यह इस तथ्य की पुष्टि करता है कि कभी अग्रवाल जाति में जैन धर्मावलम्बियों का ही बाहुल्य था।

(शेष पृष्ठ २७ पर)

जैन दर्शन की कर्म सम्बन्धी अवधारणा

—डा० रञ्जन कुमार

प्रारम्भ से ही भारतीय धर्म-दर्शन के मर्मज्ञों के लिए कर्म-सम्बन्धी सिद्धांत एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। भारत के प्रायः सभी दर्शनों में कर्म-सिद्धांत का उल्लेख कुछ कम और कुछ अधिक रूप में अवश्य हुआ है, अपवाद स्वरूप चार्वाक् दर्शन को लिया जा सकता है। परन्तु जैन दार्शनिकों का कर्म-सिद्धांत इन सबसे अलग हटकर है। इनका कर्म सम्बन्धी यह सिद्धांत मौलिक एवं अभूतपूर्व है। इस दिशा में जैन दार्शनिकों का जो योगदान है वह अविस्मरणीय है। जैन-दर्शन में कर्म को एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्य माना गया है। इसके महत्त्व की कल्पना इसी बात से उजागर हो जाती है कि इस विषय पर अलग से 'महाबन्ध', 'कषायपाहुड', 'कर्मशास्त्र', 'गोम्मटसार' (कर्मकांड) जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण, सुन्दर एवं विशालकाय ग्रंथों का संकलन स्वतंत्र रूप से हो पाया है।

जहां तक 'कर्म' शब्द के अर्थ का प्रश्न है, इसके भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थ बताए गए हैं। प्रसिद्ध ग्रंथ 'षट्खंडागम' के अनुसार किसी कार्य या व्यापार का करना 'कर्म' कहा जाता है।[1] उदाहरण स्वरूप खाना, सोना, दौड़ना आदि

(पृष्ठ २६ का शेष)

वस्तुत: अग्रवाल जाति में प्रारम्भ से ही केवल दो ही धर्मों के मानने वाले रहे हैं–जैन धर्म और सनातन धर्म। धर्म के विषय में यह जाति बहुत सहिष्णु रही हैं तथा धर्म को व्यक्तिगत आस्था एवं साधना का विषय मानती रही है तथा एक ही परिवार में तथा परिवार के निकट संबंधियों में दोनों धर्मों के मानने वाले आपसी प्रेमभाव से रहते हैं।

डा० अग्रवाल द्वारा संग्रहीत अभिलेख केवल योगिनीपुर (दिल्ली), अर्गलपुर (आगरा), हिसार, गोपाचल (ग्वालियर), आरा तथा शेखावती राज्य के फतेहपुर से प्राप्त हुए हैं। हमारा विश्वास है कि यदि उत्तर भारत एवं मध्य प्रदेश व राजस्थान के अन्य नगरों के सहस्त्रों जैन मन्दिरों में प्रतिष्ठित मूर्तियों के लेखों को पढ़ कर संग्रहीत किया जाए तथा जैन शास्त्र भंडारों का विधिवत् अध्ययन किया जाए तो प्राचीन काल के अग्रवालों के विषय में कहीं अधिक ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हो सकती है। ★

क्रियाएं कर्म हैं। आचार्य भट्टअकलंकदेव के अनुसार कर्म का अर्थ कर्मकारक पुण्य-पाप क्रियाएं हैं।[2] विभिन्न भारतीय दर्शन में 'कर्म' शब्द के लिए माया, अविद्या, अपूर्व, वासना, आशय, संस्कार, भाग्य, देव आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। जैसे बौद्ध-दर्शन में कर्म के लिए वासना और अविद्या शब्द का प्रयोग मिलता है।[3] न्याय-वैशेषिकों ने 'कर्म' के लिए 'धर्माधर्म', 'संस्कार' और 'अदृष्ट' शब्द का प्रयोग किया है।[4] सांख्य-योग दर्शन में 'कर्म' के सामानान्तर 'क्लेश', 'आशय' तथा 'वासना' जैसे शब्द मिलते हैं।[5] मीमांसा-दर्शन में 'अपूर्व'[6] तथा वेदान्त दर्शन में 'माया' और 'अविद्या' जैसे शब्दों का प्रयोग 'कर्म' के बदले में आया है।[7]

जैन दर्शन में कर्म का स्वरूप— जैन-दर्शन में कर्म के स्वरूप पर व्यापक चर्चा मिलती है। जैनागमों में कर्म की वास्तविक सत्ता मानी गयी है तथा तेईस वर्गणाओं में से एक वर्गणा कर्म की भी मानी गई है और इसे कर्मवर्गणा कहा जाता है।[8] कर्मवर्गणा से तात्पर्य कर्म बनने योग्य पुद्गल परमाणु से है। यही पुद्गल परमाणु राग-द्वेष से आकृष्ट होकर आत्मा की स्वाभाविक शक्ति (अनंत चतुष्टय) का घात करके उसकी स्वतंत्रात्मक प्रवृति पर रोक लगा देती है। इसी कारण ये पुद्गल परमाणु कर्म कहलाते हैं। कहा भी गया है "जो जीव (आत्मा) को परतन्त्र करते हैं या जिनके द्वारा जीव परतंत्र किया जाता है, वह कर्म कहलाता है।" आचार्य शिवार्य 'भगवती-आराधना' में लिखते हैं, "जीव मिथ्यादर्शनादि परिणामों द्वारा जिन्हें उपार्जित करता है, वे कर्म कहलाते हैं।"[9] 'भट्ट अकलंक-देव' कर्म की परिभाषा इस प्रकार करते है—"निश्चय नय की दृष्टि से वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा आत्मपरिणाम और पुद्गल के द्वारा पुद्गल-परिणाम एवं व्यवहार-नय की दृष्टि से आत्मा के द्वारा पुद्गल-परिणाम और पुद्गल के द्वारा आत्म-परिणाम करना कर्म है।"[10]

कर्म और आत्मा के सम्बन्ध को जाने बिना कर्म-सिद्धांत को समझाना कठिन होगा, अत: कर्म और आत्मा के बीच क्या सम्बन्ध है, यह जान लेना भी समीचीन है। जैन-दर्शन के अनुसार यद्यपि आत्मा और कर्म का अपना अलग-अलग और स्वतंत्र अस्तित्व है, परन्तु आत्मा और कर्म में सम्बन्ध है। इनके बीच किस तरह का सम्बन्ध है, इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि जिस प्रकार सोना और किट्टकालिमा में अनादिकालीन सम्बन्ध है ठीक उसी तरह का सम्बन्ध

कर्म और आत्मा में है ।[11] 'कर्म' कर्म-पुद्गल के परमाणु हैं और जहाँ तक कर्म-पुद्गल-परमाणु की बात है तो ये संसार के सभी स्थानों में विद्यमान हैं । इस संसार में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहाँ ये कर्म-पुद्गल-परमाणु विद्यमान न हों ।[12] यहाँ एक बात यह भी याद रखने योग्य है कि ये सभी कर्म-पुद्गल-परमाणु कर्म नहीं कहलाते हैं, परन्तु इनकी यह विशेषता है कि ये 'कर्म' बनने की योग्यता रखते हैं ।

अनादिकालीन कर्म मलों से युक्त जीव जब रागादि कषायों से ग्रस्त होकर कोई मानसिक, वाचिक या कायिक क्रिया करता है तब कार्मणवर्गणा के पुद्गल-परमाणु आत्मा की ओर उसी प्रकार आकर्षित होते हैं, जिस प्रकार लोहा चुम्बक की ओर आकृष्ट होता है या जिस प्रकार अग्नि से दग्ध गोला (लोहे का) पानी में डालने पर चारों तरफ से पानी खींचता है ।[13] यह क्रिया 'आस्रव' या 'योग' कहलाती है । इसे 'कर्म द्वार' भी कहा जाता है । आस्रव के कारण पुद्गल-परमाणु आत्म प्रदेशों में आकर दूध और पानी की तरह मिल जाते हैं, तब वे कार्मण-पुद्गल परमाणु 'कर्म' कहलाते हैं ।[14] दूसरे शब्दों में इसे यों कह सकते हैं कि जब तक पुद्गल-परमाणु राग-द्वेष से युक्त आत्मा से सम्बन्धित नहीं हो जाते हैं, तब तक वे कार्मण पुद्गल-परमाणु नहीं कहलाते हैं । अर्थात् परस्पर एक क्षेत्रावगाही होकर आत्मा और पुद्गल परमाणुओं का घनिष्ठ सम्बन्ध को प्राप्त होना ही कर्म है । आत्मा और कर्म के सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—पूर्वजन्म के कर्म के कारण जीव कषाययुक्त होता है और कषायों के कारण कर्म आते हैं । कषाय-रहित जीवों के बन्ध नहीं होता है । अत: सिद्ध है कि जीव और कर्म का बीज और वृक्ष की तरह अनादिकालीन कार्य-कारण सम्बन्ध है । कर्म से कषाय और कषाय से कर्म, यह परम्परा बीज और वृक्ष की तरह अनादिकाल से प्रवाहित हो रही है और तब तक होती रहेगी जब तक संसार में जीवों का अस्तित्व है ।[15]

कर्म की अवस्थाएँ—कर्म से युक्त संसारी जीव या आत्मा के बद्ध एवं बद्धमान कर्मों की अपने आस्रव से फल देने तक विविध दशाएँ होती हैं । ये दशाएँ हैं–[16]

१. **बन्धन**— कर्म आत्मा के साथ उसी प्रकार मिल जाते हैं, जिस प्रकार सोने और चाँदी को एक साथ गलाने पर दोनों के प्रदेश मिल कर एक रूप हो जाते हैं । कर्म और आत्मा के प्रदेशों का मिल कर एक रूप हो जाना ही बन्ध कहलाता है ।[17] यह कर्म की प्रथम अवस्था है ।

२. **सत्ता**—फल प्राप्ति के पहले की अवस्था सत्ता अवस्था कही जाती है। 'पञ्चसंग्रह' के अनुसार पूर्वसंचित कर्म का आत्मा में अवस्थित रहना सत्ता है।[18]

३. **उदय**—कर्म के फल देने की अवस्था 'उदय' कहलाती है। आचार्य पूज्यपाद ने भी कहा है 'द्रव्याद' के निमित्तानुसार कर्मों के फल की प्राप्ति होना उदय है।[19]

४. **उदीरणा**—जिन पूर्वसंचित कर्मों का अभी तक उदय नहीं हुआ है, उनको बलपूर्वक नियत समय भोगने के लिए पका कर फल देने के योग्य कर लेना ही उदीरणा है।[20]

५. **उत्कर्षण**—बन्धन के समय कषायों की तीव्रता आदि के अनुसार कर्मों की स्थिति और अनुभाग होता है। उनकी इस स्थिति और अनुभाग को भी किसी अध्यवसाय विशेष के द्वारा बढ़ाना उत्कर्षण कहलाता है।

६. **अपकर्षण**—सम्यग्दर्शनादि की सहायता से पूर्व संचित कर्मों की स्थिति एवं अनुभाग को क्षीण (कम) कर देना अपकर्षण है।[21]

७. **संक्रमण**—पूर्वबद्ध कर्म की सहायता से पूर्व संचित कर्मों की स्थिति एवं उत्तर प्रकृति को जीव के परिमाणों के कारण सजातीय प्रकृतियों में बदलने की अवस्था को संक्रमण कहते हैं।[22]

८. **उपशमन**—कर्मों की उदय-उदीरणा को रोक देना उपशमन है।[23]

९. **निधत्ति**—कर्म की जिस अवस्था में उद्वर्त्तना और अपवर्त्तना हो सके, लेकिन उदीरणा और संक्रमण न हो, वह अवस्था निधत्ति या निधत्त है।[24]

१०. **निकाचन**—कर्म का जिस रूप में बन्ध हुआ उसको उसी रूप में भोगना अर्थात् उद्वर्त्तना, अपवर्त्तना, संक्रमण और उदीरणा अवस्थाओं का न होना, निकाचनावस्था है।[25]

११. **अवाधावस्था**—कर्म बन्ध के समय तुरन्त फल न देना अवाधावस्था है।[26]

कर्म के भेद :—जैन-दर्शन में कर्म का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। किन्तु अध्यवसाय विशेष से जीव द्वारा एक ही बार में गृहीत कर्मपुद्गल-राशि में एक साथ आध्यवसायिक शक्ति की विविधता के अनुसार उनके स्वभाव निर्मित होते हैं। वे स्वभाव अदृश्य होते हैं, फिर भी उनका परिगमण उनके कार्य प्रभाव को देखकर किया जा सकता है। एक या अनेक जीवों पर होने वाले कर्म के असंख्य प्रभाव अनुभव में आते हैं। वास्तव में इन प्रभावों के उत्पादक

स्वभाव भी असंख्यात हैं। फिर भी संक्षेप में उन सभी का वर्गीकरण करके आठ भागों में बांट दिया गया है–[27]

१. ज्ञानावरण :—जिसके द्वारा ज्ञान (विशेष बोध) का आवरण होता है, वह ज्ञानावरण कर्म कहलाता है। गोम्मटसार (कर्मकांड) के अनुसार – जिस प्रकार कपड़े की पट्टी नेत्रों में बांध देने से नेत्रों की पदार्थों को जानने की शक्ति रुक जाती है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के उदय से सकल पदार्थों को जानने की शक्ति अवरुद्ध हो जाती है।[28] ज्ञानावरण कर्म के अवान्तर रूप से पांच भेद हैं–[29] (i) मतिज्ञानावरण, (ii) श्रुतज्ञानावरण, (iii) अवधिज्ञानावरण, (iv) मन:पर्यय या मन:पर्यव ज्ञानावरण और (v) केवल ज्ञानावरण।

इन्द्रिय तथा मन की सहायता से मूर्त और अमूर्त द्रव्यों के एक अंश को विशेष रूप से जानने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञानावरण क क्षायोपशम से मन की सहायता से मूर्त और अमूर्त द्रव्यों की कुछ पर्यायों को विशेष रूप से जानने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। मूर्त द्रव्यों की कुछ पर्यायों को विशेष रूप से जानने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। मूर्त द्रव्यों की कुछ पर्यायों को प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को मन:पर्यवज्ञान एवं समस्त ज्ञानावरण के अत्यन्त क्षय से केवल आत्मा से ही मूर्त-अमूर्त द्रव्यों की सब पर्यायों को जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।[30] उपरोक्त ज्ञान के विभिन्न प्रकारों का आच्छादन या आवरण करने वाले कर्म को क्रमश: मति, श्रुत, अवधि मन:पर्यय एवं केवल ज्ञानावरण कहते हैं।

२. दर्शनावरण :—जिस कर्म के द्वारा दर्शन (सामान्य) का आवरण हो, वह दर्शनावरण कर्म है। दर्शनावरण कर्म राजा के द्वारपाल की तरह होता है। कहा भी गया है जिस प्रकार पहरेदार या द्वारपाल शासक को देखने या मिलने के लिए उत्सुक जनसमुदाय को बाधा डालता है या रोक देता है, ठीक उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म आत्मा की दर्शन शक्ति पर आवरण डाल कर उसे प्रकट होने से रोकता है।[31] जैनागमों में दर्शनावरण कर्म के नौ भेद बतलाए गये हैं-[32] (१) चक्षु दर्शनावरण, (२) अचक्षु दर्शनावरण, (३) अवधि दर्शनावरण, (४) केवल दर्शनावरण, (५) निद्रा, (६) निद्रानिद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचलाप्रचला, और (९) स्त्यानगृद्धि।

जिस दर्शनावरण कर्म के उदय से चक्षु से होने वाले सामान्य बोध में बाधा पड़ती हो, उसे चक्षुदर्शनावरण कर्म कहते हैं। चक्षुइन्द्रिय के अलावा अन्य

इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाला सामान्य बोध जिसके द्वारा बाधित होता है, उसे अचक्षु दर्शनावरण कर्म कहा जाता है। जिस कर्म के उदय से इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी द्रव्यों का सामान्य बोध न हो सके, अवधिदर्शनावरण कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव को समस्त द्रव्य और पर्यायों का युगपत सामान्य बोध न हो सके, उसे केवल दर्शनावरण कर्म कहते हैं।[33] जिस कर्म के उदय से ऐसी निद्रा आये कि सुख पूर्वक जागा जा सके वह निद्रा दर्शनावरण कर्म है। जिस कर्म के उदय से निद्रा से जागना अत्यन्त कठिन हो, वह निद्रानिद्रा दर्शनावरण कर्म है। जिस कर्म के उदय से बैठे-बैठे या खड़े-खड़े ही नींद आ जाए वह प्रचलावेदनीय दर्शनावरण कर्म है। जिस कर्म के उदय से चलते-चलते ही नींद आ जाए, वह प्रचलाप्रचला दर्शनावरण कर्म है। जिस कर्म के उदय से जाग्रत अवस्था में सोचे हुए काम को निद्रावस्था में करने का सामर्थ्य प्रकट हो जाए वह स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण कर्म है। इस निद्रा में सहज बल से अनेक गुना अधिक बल प्रकट होता है।[34]

३. वेदनीय :—जिस कर्म के कारण सुख या दुःख का अनुभव हो, वह वेदनीय कर्म कहलाता है। 'सर्वार्थसिद्धि' में आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं- वेदनीय कर्म की प्रकृति सुख दुःख का संवेदन करना है।[35] यह दो प्रकार का होता है।[36] (१) सातावेदनीय और (२) असातावेदनीय।

जिस कर्म के उदय से जीव को सुख का अनुभव होता है वह सातावेदनीय और जिसके कारण जीव को दुःख होता है वह असातावेदनीय कर्म है।[37]

४. मोहनीय कर्म :—जिस कर्म के कारण आत्मा में मोह का भाव उत्पन्न होता है, वह मोहनीय कर्म कहलाता है। आचार्य श्री पूज्यपाद के अनुसार जो मोहित करता है या जिसके द्वारा मोहा जाता है, यह वेदनीय कर्म है।[38] मोहनीय कर्म के दो भेद हैं – (१) दर्शन मोहनीय और (२) चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन उपभेद हैं—सम्यकत्व, मिथ्यात्व और तदुभय (सम्यकत्व-मिथ्यात्व)। चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं –कषायावेदनीय एव नोकषायवेदनीय पुनः कषायावेदनीय के चार भेद है –क्रोध, मान, माया और लोभ। प्रत्येक कषायावेदनीय के चार-चार उपभेद है –अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन। इस तरह कषायावेदनीय के सभी मिलाकर सोलह भेद बनते हैं। नोकषायवेदनीय के नौ भेद हैं –हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद।[39]

जिस कर्म के उदय से तत्वों के यथार्थ स्वरूप में रुचि न हो, वह मिथ्यात्व मोहनीय कर्म है। जिस कर्म के उदय के समय में यथार्थता की रुचि या अरुचि न होकर डांवाडोल की स्थिति रहे वह मिश्रमोहनीय कर्म है। जिसका उदय तात्विक रुचि का निमित्त होकर भी औपशमिक या क्षायिक भाववाली तत्त्वरुचि का प्रतिबन्ध करता है वह सम्यकत्व मोहनीय कर्म है।[40]

जो कर्म क्रोधादि चार कषायों को इतना अधिक तीव्र बना दे कि जिसके कारण जीव को अनन्तकाल तक संसार में भ्रमण करना पड़े वह कर्म अनुक्रम से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ है। जिन कर्मों के उदय से आविर्भाव को प्राप्त कषाय इतने ही तीव्र हों कि उनसे विरति का ही प्रतिबन्ध हो सके वे क्रमशः अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ है। जिनका विपाक देशविरति का प्रतिबन्ध न करके सर्वविरति का ही प्रतिबन्ध करे, वे प्रत्याख्यान वरणीय क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। अर्थात् जो कर्म अल्प प्रयास से ही दूर हो जाए वह प्रत्याख्यान वरणीय कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) है। जिनके विपाक की तीव्रता सर्वविरति का प्रतिबन्ध तो न करें लेकिन उसमें स्खलन और मालिन्य उत्पन्न करें वे संज्वलन क्रोध, मान, माया, और लोभ हैं। कर्म का यह प्रकार बहुत ही अल्प प्रयास से दूर हो जाता है।[41]

हास्य की उत्पादक प्रकृतिवाला कर्म हास्य मोहनीय है। कहीं प्रीति और कहीं अप्रीति के उत्पादक कर्म अनुक्रम से रतिमोहनीय और अरतिमोहनीय है। भयशीलता का द्योतक कर्म भयमोहनीय है। शक्ति शीलता का प्रतीक कर्म शक्तिमोहनीय, घृणा पैदा करने वाला जुगुप्समोहनीय कर्म है। स्त्रैण भाव पैदा करने वाला कर्म स्त्रीवेद है, पुरुष या पौरुष भाव विकार का उत्पादक कर्म पुरुषवेद है। नपुंसक भाव विकार का उत्पादक कर्म नपुंसकवेद है।[42] इन नोकषाय के उदय से कषाय उत्तेजित होता है।

५. **आयुष्क** :—जिस कर्म के उदय से भाव का निर्धारण होता है, वह आयुष्क कर्म कहलाता है। आचार्य नेमिचन्द्र आयुष्क कर्म की व्याख्या करते हुए लिखते हैं– जिस प्रकार न्यायाधीश अपराधी को नियत समय के लिए उसके द्वारा किए गए अपराध के लिए दण्डित करता है और दंड स्वरूप कारागृह में डाल देने का आदेश देता है तथा अपराधी की इच्छा होने पर भी अवधि पूर्ण होने के पहले वह कारागृह से मुक्त नहीं हो पाता है ठीक उसी प्रकार आयुष्क कर्म जीव को विवक्षित अवधि तक शरीर से मुक्त नहीं होने देता है।[43] आयुष्क कर्म के

चार उपभेद हैं –[44] (१) नारक (२) तिर्यंच (३) मनुष्य (४) देव।

जिन कर्मों के उदय से देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक गति मिलती है वे क्रमशः देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक के आयुण्य हैं।

६. नाम :—जिससे विशिष्ट गति, जाति आदि की प्राप्ति होती है वह नाम कर्म है। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार जो कर्म आत्मा को नमाता हो या जिसके द्वारा आत्मा नमता है, वह कर्म नाम कर्म है।[45] गोम्मटसार (कर्मकांड) में भी कहा गया है कि जिस कर्म से जीव में गति आदि के भेद उत्पन्न हों, जो देहादि की भिन्नता का कारण हो अथवा जिसके कारण गत्यन्तर जैसे परिणमन हों, वह नाम कर्म है।[46]

जैनागमों में नाम कर्म की कुल संख्या बयालीस बतलाई गई है। ये बयालीस नाम कर्म इस प्रकार हैं–[47] [१] गति, [२] जाति, [३] शरीर, अंगोपांग, [५] निर्माण, [६] बंधन, [७] संघात, [८] संस्थान, [९] संहनन, [१०] स्पर्श, [११] रस, [१२] गन्ध, [१३] वर्ण, [१४] आनुपूर्वी, [१५] अगुरूलघु, [१६] उपघात, [१७] परघात, [१८] आतप, [१९] उद्योत, [२०] उच्छ्वास, [२१] विहायोगति, [२२] साधारण, [२३] प्रत्येक, [२४] स्थावर, [२५] त्रस, [२६] दुर्भग, [२७] सुभग, [२८] दुःस्वर, [२९] सुस्वर, [३०] अशुभ, [३१] शुभ, [३२] बादर, [३३] सुक्ष्म, [३४] अपर्याप्त [३५] पर्याप्त, [३६] अस्थिर, [३७] स्थिर, [३८] अनादेय, [३९] आदेय, [४०] अयश, [४१] यश एवं [४२] तीर्थंकरत्व।

७. गोत्र कर्म :—जिस कर्म के उदय से जीव ऊंच-नीच कहलाता है, उसे गोत्र कर्म कहते हैं। इस कर्म की तुलना कुम्भकार से की गयी है। जिस प्रकार कुम्भकार छोटे-बड़े अनेक प्रकार के घड़े बनाता है, उसी प्रकार गोत्र-कर्म के उदय से जीव उच्च एवं निम्न कुल में जन्म लेता है। उसके दो भेद हैं–[48] (१) उच्च गोत्र कर्म और (२) निम्न गोत्र कर्म।

प्रतिष्ठा प्राप्त कराने वाले कुल में जन्म दिलाने वाला कर्म उच्च गोत्र और शक्ति रहने पर भी प्रतिष्ठा न मिल सके ऐसे कुल में जन्म दिलाने वाला कर्म निम्न गोत्र कर्म है।[49]

८. अन्तराय कर्म :—जिस कर्म के उदय से दान लेने देने तथा भोगादि में विघ्न पड़े वह अन्तराय कर्म है। अन्तराय कर्म के पांच भेद हैं–[50] (१) दानान्तराय कर्म, (२) लाभान्तराय कर्म, (३) भोगान्तराय कर्म, (४) उपभोगान्तराय

कर्म और (५) वीर्यान्तराय कर्म।

इन कर्मों के उदय से क्रमश: कुछ भी लेने-देने, एक बार या बार-बार भोगने तथा सामर्थ्य में विघ्न पैदा होता है।[51]

घाती-अघाती कर्म :–कर्म के उपर्युक्त आठ भेदों का विभाजन दो वर्गों में किया गया है। इनका यह विभाजन कर्म का जीव की शक्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है इसके आधार पर किया गया है। जैनों के अनुसार आत्मा या जीव की शक्ति अनन्त होती है। उसकी यह अनन्त शक्ति कर्मों के कारण बाधित हो जाती है। इस दृष्टि से कर्म के दो भेद किये गये हैं –[52] (१) घाती कर्म और (२) अघाती कर्म।

१. **घाती कर्म** :–जो कर्म आत्मा की शक्ति (स्वाभाविक) का घात करते हैं अर्थात् नष्ट करते हैं उन्हें घाती कर्म कहा जाता है। घाती कर्म चार हैं–[53] (१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) मोहनीय और (४) अन्तराय। पुन: घाती कर्म सर्वघाती एवं देशघाती कर्म में विभाजित है।[54]

सर्वघाती कर्म :—जो कर्म जीव के गुणों का पूर्ण रूपेण विनाश करती है, वह सर्वघाती कर्म है।[55] यह कर्म आत्म-गुणों को इस तरह आच्छादित कर देता है कि आत्मा (जीव) अपने गुणों को किंचित मात्र भी व्यक्त नहीं कर पाती है।

देशघाती कर्म :–जो कर्म जीव के आत्मिक गुणों को आंशिक रूप से आच्छादित करता है, वह देशघाती कर्म कहलाता है।[56]

२. **अघाती कर्म** :–जो कर्म उदय में आने के बाद भी आत्मा के गुणों का विनाश नहीं कर पाते हैं या विनाश करने की शक्ति नहीं रखते हैं वह अघाती कर्म कहलाते हैं।[57] इसके भी चार भेद हैं –[58] (१) वेदनीय, (२) आयु, (३) नाम और (४) गोत्र।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि दर्शन का कर्म सम्बन्धी यह सिद्धांत व्यापक होने के साथ-साथ व्यावहारिक, मौलिक एवं वैज्ञानिक भी है। विशेष रूप से कर्म के आठ भेद तो निश्चित रूप से व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक हैं। यह व्यावहारिक अनुभव की बात है कि हममें से कोई किसी विशेष तरह का ज्ञान रखता है, तो किसी को उस विशेष ज्ञान का अभाव रहता है। इसे मानव बुद्धि की सीमितता मानी जाती है। परन्तु जैनों के कर्म सिद्धांत के अनुसार यह ज्ञान विशेष का होना या न होना ज्ञानावरण कर्म से प्रभावित होता

है । इसी प्रकार हम यह भी पाते है कि कभी-कभी वस्तु को सम्यक दृष्टि से नहीं देख पाते हैं या उसकी अनुभूति ठीक से नहीं हो पाती है । यह दर्शनावरण एवं अन्तराय कर्म के प्रभाव से प्रभावित माना जा सकता है ।

दुःख-सुख, माया-मोह, ममता आदि की अनुभूति सांसारिक जीवन के अभिन्न अंग है । यद्यपि यह मनुष्य की आंतरिक इच्छा और उसकी दुर्बलता का ही द्योतक है, परन्तु जैन-दर्शन का कर्म सिद्धांत इसे भी कर्म प्रभावित मानता है । इसके पीछे किस प्रकार के कर्म का परिणाम कार्य करता है अगर हम इसका उत्तर खोजें तो पायेंगे कि सुख-दुःख वेदनीय कर्म का परिणाम है तो माया-ममता, मोह आदि का जनक मोहनीय कर्म है । उच्च और निम्न कुल में जन्म लेना जहां गोत्र कर्म द्वारा निर्धारित होता है, वहीं जीवों को विभिन्न नाम नाम कर्म द्वारा प्राप्त होता है । जीवों की स्थिति एवं उसकी विभिन्न परिस्थिति का जनक भी नाम कर्म ही है ।

आधुनिक जीवन में धर्मानुकरण की प्रवृत्ति अभी तक अक्षुण्ण है । इसी प्रवृत्ति के कारण दान देने लेने आदि की प्रक्रिया प्रचलन में है । इसमें कुछ शिथिलता भी अवश्य आई है । इसके पीछे चाहे कारण जो भी रहा हो उदाहरण स्वरूप भौतिक वादी युग या मंहगाई, किन्तु जैन कर्म सिद्धांत के अनुसार यह शिथिलता अन्तराय कर्म का फल है । इसी तरह सभी साधन उपलब्ध होते हुए भी उसका भोग, उपभोग नहीं कर पाना भी अन्तराय कर्म का ही परिणाम है ।

संभवत: कर्म सिद्धांत की इस तरह की व्याख्या अन्य दर्शनों में नहीं मिलती है, इसीलिए जैनों का यह कर्म सिद्धांत मौलिक प्रतीत होता है ।

संदर्भ :—

१—षटखंडागम, भाग ६ पृष्ठ १८

२—तत्वार्थवार्तिक, ६/१/५, श्री भारतीय जैन सिद्धांत प्रकाशन, काशी

३—अभिधर्मकोष, १/९, भारतीय दर्शन –चटर्जी, पृष्ठ ७९

४—न्यायभाष्य, १/१/२

५—योगदर्शन भाष्य, १/५

६—शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ८०

७—शांकर भाष्य, २/१/१४

८—षटखंडागम, ५, पृष्ठ १४

९—भगवती अराधना, विजयोदया टीका, पृ० ७१

१०—तत्वार्थवार्तिक- ६/१/७

११—गोम्मटसार (कर्मकांड), गाथा २, अनु० पं० मनोहर लाल श्रीमद् राजचन्द्र, आश्रम, अगास, १९७१

१२—पंचास्तिकाय, गाथा ६४, अनु० श्री पन्नालाल, परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, संवत २०२५

१३—तत्वार्थवार्तिक, ६/२/५ १४—पंचास्तिकाय, गाथा ६५-६६

१५—सर्वार्थसिद्धि, ८/२ पृ० ३७७ अनु० पं० फूलचन्द्र सिद्धांतशास्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५५

१६—जैन धर्म दर्शन, पृ० ४८५ १७—नयचक्र, गाथा १५४

१८—पंचसंग्रह, ३/३, अनु० पं० हीरा लाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

१९—सर्वार्थसिद्धि, २/१/६ २०—धवला, खंड १, पृ० ६, भाग ९-८

२१—गोम्मटसार (कर्मकांड), ४३८ २२—गोम्मटसार (कर्मकांड), ४३८

२३—धवला, खंड ४, भा० १, पृ० ९ २४—गोम्मटसार (कर्मकांड), ४४०

२५—वही०, ४४० २६—वही,० ४४०

२७—तत्वार्थसूत्र, पृ० १९५-१९६, विवेचक—सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

२८—गोम्मटसार (कर्मकांड), २१ २९—तत्वार्थसूत्र, ८/६

३०—नयचक्र, पृ० ११ ३१—गोम्मटसार (कर्मकांड), २१

३२—तत्वार्थसूत्र, ८/८ ३३—तत्वार्थवार्तिक, ८/७/१० ३४—तत्वार्थसूत्र, ८/७-८

३५—वेद्यस्य सदसल्लक्षणस्य सुख-दुःख संवेदनम् ।, सर्वार्थसिद्धि, ८/३/१ पृ० ३७९

३६—सदसद्वेद्ये । तत्त्वार्थसूत्र, ८/९ ३७—तत्त्वार्थसूत्र, पृ० १९८

३८—मोहयति मोहयतेऽनेनेति वा मोहनीयम्, सर्वार्थसिद्धि, ८/४/५/३८०

३९—तत्त्वार्थसूत्र, ८/१० ४०—वही०, पृ० १९८

४१—तत्त्वार्थसूत्र, पृ० १९८ ४२—वही०, पृ० १९९

४३—जीवस्स अवट्ठाणं करेदि आऊ हलिव्वं णरं-गोम्मटसार (कर्मकांड), ११

४४—नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि । तत्वार्थसूत्र, ८/११

४५—नमयत्यात्मानं नम्यतेऽनेनेति वा नाम सर्वार्थसिद्धि, ८/४/३८१

४६—गोम्मटसार (कर्मकांड), १२ ४७—तत्वार्थसूत्र, ८/१०

४८—उच्चैर्नीचैश्च । तत्त्वार्थसूत्र, ८/१३ ४९—वही०, पृ० २००

५०—वही०, पृ० २०० ५१—वही०, पृ० २००-२०१

५२—गोम्मटसार (कर्मकांड), ७ ५३—वही०, ९

५४—तत्त्वार्थवार्तिक, ८/२३/७ ५५—गोम्मटसार (कर्मकांड), ३९ एवं १८०

५६—द्रव्य संग्रह टीका, गा० ३४, वि० द्र० गोम्मटसार (कर्म०), ४०

५७—पंचसंग्रह, ४८४ ५८—गोम्मटसार (कर्म०), ९

★

साहित्य-सत्कार

१. खण्डेलवाल जैन समाज का बृहद इतिहास :—लेखक एवं सम्पादक—डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल, प्रकाशक—जैन इतिहास प्रकाशन संस्थान, ८६७ अमृत कलश, किसान मार्ग, बरकत नगर, जयपुर-३०२१०५, पृष्ठ ३४४, मूल्य-रु० १००/-

डा० कस्तूर चन्द जी कासलीवाल जैन जगत के जाने माने इतिहासकार-साहित्यकार हैं। प्रस्तुत ग्रंथ की सामग्री डाक्टर साहब ने बड़े परिश्रम से संकलित की है तथा खंडेलवाल जैन जाति का प्रामाणिक इतिहास तैयार कर प्रकाशित करने के लिए वे बधाई के पात्र हैं। किन्तु जाति व्यामोह में उन्होंने जातियों की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए मध्य युगीन भट्टारकों द्वारा (१६ वीं-१७ वीं शताब्दी में) रची गई पट्टावलियों को, बिना उनकी विश्वसनीयता की कोई समीक्षा किए, आधार मान कर कुछ बड़े ही हास्यास्पद कथन समाविष्ट कर दिए हैं। उदाहरण स्वरूप पृष्ठ ८ पर लिखा है कि श्री कुन्द-कुन्द आचार्य जाति से पल्लीवाल थे तथा उनका आचार्य काल वि०सं० ४९ से १०१ था (जबकि पृष्ठ १९ पर उनका समय १२७-१७९ ई० दिया है), तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वामी उनके साक्षात शिष्य एवं उत्तराधिकारी थे तथा अयोध्यापुरी श्रावक थे, आचार्य समन्तभद्र लंबेचु जाति के थे। विक्रम की २-४ शतब्दी में हुए आचार्य यशकीर्ति जायसवाल थे, पूज्यपाद पद्मवती पोरवाल थे, आचार्य गुणनन्दि गोलापूर्व थे आदि आदि, जबकि इन आचार्यों के द्वारा रचित साहित्य से उनकी ग्रहस्थ-पर्याय की जाति का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

२. आचार्य कुन्द-कुन्द की देशना :–ले० विद्वत्रत्न धर्म दिवाकर पं० सुमेरु चन्द्र दिवाकर, प्रकाशक—श्री भा० दि० जैन महासभा, ऐशबाग, लखनऊ-४, पृष्ठ २३, मूल्य रु० १/-

श्री पं० सुमेरुचन्द्र जी दिवाकर महासभा विचार धारा के सुप्रसिद्ध वयोवृद्ध विद्वान है। उन्होंने तथा कथित कहान पंथ की कतिपय मान्यताओं को आगम विरोधी सिद्ध करने के लिए स्याद्वाद चक्र, आगम पथ, तात्विक चिन्तन, समीचीन दृष्टि आदि कई पुस्तकें लिखी हैं। प्रस्तुत पुस्तिका की रचना भी उसी कड़ी में आचार्य कुन्द-कुन्द द्विसहस्राब्दि समारोह के उपलक्ष में की गई है। इस पुस्तिका में पंडित जी ने आचार्य कुन्द-कुन्द के ही ग्रंथों से गाथाएं उद्धृत करके कहान् पंथी मान्यताओं को उनके विरूद्ध सिद्ध किया है।

३. **जिनदत्त चरित्र** :—श्री गुणभद्राचार्य विरचित-अनुवादिका-आर्यिका रत्न श्री विजयामती जी, सम्पादक-श्री महेन्द्र कुमार जैन बड़जात्या, प्रकाशक-श्री दि० जैन विजया ग्रंथ प्रकाशन समिति, जैन भगवती भवन, ११४, शिल्प कालोनी झोरवाड़ा, जयपुर-३०२०१२, मूल्य स्वाध्याय, पृष्ठ २००

संस्कृत भाषा में रचित इस ग्रंथ को पूज्य विदूषी आर्यिका विजया मतीजी ने पोन्नूरमलै में तमिल लिपि से देवनागरी लिपि में उल्था कर मूल संस्कृत श्लोकों को हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित कराया है। ग्रंथ के प्रारम्भ में अपने मन्तव्य में पू० माताजी ने लिखा है कि यह ग्रंथ उन्हें हिन्दी में देखने को प्राप्त नहीं हुआ पोन्नूरमलै में ग्रंथ लिपि पढ़ने का अभ्यास कर प्रथम इसी चरित्र को पढ़ा। रोचक और शिक्षास्पद होने से उन्होंने इसे देवनागरी लिपि में उल्था किया।

माताजी ने ग्रंथ कर्त्ता श्री गुण भद्राचार्य को बताया है (यद्यपि हमें ग्रंथ में ग्रंथ कर्त्ता का नाम निर्देश देखने को नही मिला)। ग्रंथ कर्त्ता तथा ग्रंथ रचना का क्या काल है, इस पर प्रस्तुत ग्रंथ में कोई प्रकाश नहीं डाला गया।

प्राचीन जैन कथा साहित्य में जिन दत्त चरित्र का महत्व पूर्ण स्थान है। यह कथानक समराइच्च कहा जम्मया कहा, सुर सुन्दरी चरित्र, श्रीपाल-मैना सुन्दरी कथा के समान ही प्राचीन काल से लोकप्रिय रहा है। प्राकृत में दो जिनदत्त आख्यान उपलब्ध हैं—एक सुमति सूरि द्वारा विरचित है तथा दूसरे के अज्ञातनामा ग्रंथ कर्त्ता है। ये दोनों भारतीय विद्या भवन बम्बई से सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ के अन्तर्गत सन् १९५३ में प्रकाशित हुए थे तथा एक प्राचीन हिन्दी में जिणदत्त चरित्र कविवर रणसिंह कृत श्री महावीर जी से सन् १९६६ में प्रकाशित हुआ है। संस्कृत के जिनदत्त चरित्र का पूज्य माताजी ने तमिल भाषा की ताड़पत्रीय प्रति से उद्धार कर प्रस्तुत ग्रँथ के रुप में हिन्दी भाषियों को उपलब्ध कराया है जिस के लिए उनका उपकार है। इस कृति की कथा वस्तु रोचक है तथा इसमें आहार दान का महात्मय दर्शाया गया है।

४. **शत अष्टोत्तरी एवं शिलान्यासादि मुहूर्त पद्धति** :—संकलनकर्त्ता-पं० महेन्द्र कुमार अजमेरा "प्रभाकर", प्राप्ति स्थान-गट्टू लाल ताराचन्द जैन, पचेवर, जिला टोंक, पृष्ठ-७५

इस संकलन में १७-१८ वीं शताब्दी के आगरा के सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक कवि भैया भगवतीदास की रचना शत अष्टोत्तरी (कवित सवैया दोहा आदि

विभिन्न छंदों में रचित १०८ वैराग्य परक पदों) के अतिरिक्त शिलान्यास, नूतन गृह प्रवेश, विद्यारम्भ, वाग्दान विवाह आदि के मुहूर्त विधान तथा देव-शास्त्र गुरु विद्यमान विंशति तीर्थंकर तथा सिद्ध परमेष्ठी की पूजा आदि को संग्रहीत किया गया है। संकलन उपयोगी है। इसे पचेवर के सेठ गट्टू लाल ताराचन्द जैन अग्रवाल ने अपने पूज्य पिता श्री पांचूलाल जी की पांचवी पुण्य तिथि के उपलक्ष में निःशुल्क वितरण के लिए प्रकाशित किया है। पुस्तिका ३० पैसे का डाक टिकट भेज कर प्राप्त की जा सकती है।

५. परमाध्यात्म तरंगिणी एवं बारस अणुवेक्खा :–पृष्ठ ३८४, मूल्य-स्वाध्याय, प्राप्ति स्थान-वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, तथा श्री पं० बाबूलाल जैन, ३/१०, दरियागंज नई दिल्ली।

प्रस्तुत ग्रंथ में भगवत् कुन्द कुन्दाचार्य के समयसार पर अमृतचन्द्राचार्य द्वारा संस्कृत भाषा में रचित अमृतकलश के श्लोक तथा उनकी भट्टारक शुभ चन्द्राचार्य द्वारा परमाध्यात्म तरंगिणी नामक संस्कृत व्याख्या तथा उसकी पंडित प्रवर जयचन्द जी छाबड़ा द्वारा ढुंढारी भाषा में की गई टीका का पं० कमल कुमार जी शास्त्री द्वारा हिन्दी रूपान्तर दिया गया है। साथ ही आचार्य कुन्द कुन्द की सुप्रसिद्ध कृति बारस अणुवेक्खा के संस्कृत छाया सहित मूल प्राकृत गाथाएं तथा पं० नाथू राम जी प्रेमी द्वारा उनका हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। ग्रंथ के प्रारम्भ में पं० बाबूलाल जी जैन की विद्वत्ता पूर्ण प्रस्तावना "परमात्मा होना जीव का जन्म सिद्ध अधिकार है" दी गई है जिसमें अमृत कलश का सार प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रंथ दरियागंज की शास्त्र सभा में बैठने वाले भाई-बहिनों की प्रेरणा तथा आर्थिक सहयोग से स्वाध्याय प्रेमियों के उपयोग के लिए वीर सेवा मन्दिर द्वारा प्रकाशित किया गया है। ग्रंथ का गैट-अप, छपाई आदि उत्तम है। स्वाध्याय प्रेमियों को इससे अवश्य लाभ उठाना चाहिए।

६. (क) वरांग चरित्र :–ले० आर्यिका सुपार्श्वमति जी, प्रकाशक-श्री भा० दि० जैन महासभा, लखनऊ, पृष्ठ १४४, मूल्य रु० १०/-

(ख) नैतिक शिक्षा प्रद कहानियां :–भाग ८, लेखक व प्रकाशक-वही, पृष्ठ ८०, मूल्य-रु० ७/-

पूज्य आर्यिका श्री सुपार्श्वमति जी एक विदुषी महिला संत है जिन्होंने अनेक प्राचीन जैन कथानकों को अपनी सशक्त लेखनी से हिन्दी में जीवन्त किया

है। वरांग चरित्र भी एक ऐसी ही कृति है जिसमें भगवान अरिष्ट नेमि के तीर्थ में हुए वरदत्त केवली के शिष्य राजर्षि वरांग के जीवन चरित्र का वर्णन किया गया है तथा उसे जैन दर्शन एवं साध्वाचार तथा श्रावकाचार के उपदेश का माध्यम बनाया गया है। यह कृति जटा सिंह नन्दि के सुप्रसिद्ध संस्कृत पौराणिक प्रबन्ध काव्य "वरांग चरित" पर आधारित है जो सर्व प्रथम प्रो० खुशाल चन्द गोरावाला के हिन्दी अनुवाद सहित सन् १९५३ में भा० दि० जैन संघ मथुरा द्वारा प्रकाशित किया गया था।

नैतिक शिक्षा प्रद कहानियों में भी णमोकार, पुण्य-पाप, कर्म फल आदि के महत्व को रोचक कथाओं के माध्यम से दर्शाया गया है।

७. **णाण सायर** :–अंक १ व २ (जून १९८९ से दिसम्बर १९८९) सम्पादक व प्रकाशक-अशोक जैन व कुसुम जैन, विद्यासागर पब्लिकेशन, बी-५/२६३, यमुना विहार, दिल्ली-११००५३, वार्षिक मूल्य-रु० ३५/-

पूज्य आचार्य विद्यासागर जी के शुभ आशीर्वाद के साथ तथा आचार्य श्री विद्यासागर शोध संस्थान जबलपुर के दिशा निर्देश में प्रारम्भ की गई इस त्रैमासिक पत्रिका का उद्देश्य जैन संस्कृति के शाश्वत मूल्यों का अनुशीलन करना है तथा ज्ञान सागर में गोता लगाकर पाठकों को कुछ मोती उपलब्ध कराना है। प्रवेशांक एवं अंक २ के अनुशीलन से सम्पादकों का प्रयास सार्थक ही सिद्ध होता है। दोनों अंकों में सभी लेख उच्च स्तरीय प्रेरणास्पद एवं ज्ञानवर्द्धक हैं। हम पत्रिका का स्वागत करते हैं तथा कामना करते हैं कि यह दीर्घ जीवी हो तथा विद्वान सम्पादकगण इसी प्रकार इसका स्तर बनाए रखें।

—अजित प्रसाद जैन

शोध की सफलता

"आचार्य विद्यानन्द विरचितया परीक्षायाः दार्शनिक विवेचनम्" विषयक शोध प्रबन्ध पर राजस्थान विश्वविद्यालय ने श्री शोभा लाल जैन को विद्या-वारिधि (पी-एच०डी०) उपाधि प्रदान की।

"जैन दर्शन और कबीर–एक तुलनात्मक अध्ययन" विषयक शोध प्रबन्ध पर पूना विद्यापीठ ने ५-१-१९९० को पंजाब श्वेताम्बर जैन स्थानकवासी संघ की साध्वी श्री मंजु श्री को पी-एच०डी० की उपाधि प्रदान की।

उपर्युक्त सभी शोधकर्ताओं को उनके शोधकार्य की इस सफलता के लिये 'शोधादर्श' परिवार की ओर से बहुत-बहुत बधाई है।

अभिनन्दन

अहिंसा और गांधीवाद के लिये प्रतिबद्ध, दीर्घकाल तक अणुव्रत आन्दोलन से सम्बद्ध हिन्दी के वरिष्ठ मानवतावादी साहित्यकार श्री यशपाल जैन को इस वर्ष गणतन्त्र दिवस पर 'पद्मश्री' अलंकरण प्रदान किया गया।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी द्वारा संचालित जैन विद्या संस्थान द्वारा वर्ष १९८८ का महावीर पुरस्कार (रु० ५००१/-) डा० फूलचन्द्र 'प्रेमी', विभागाध्यक्ष, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी को उनकी कृति "मूलाचार का सांस्कृतिक अध्ययन" पर प्रदान किया गया।

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा स्थापित रु० ५१०००/- का मूर्ति देवी पुरस्कार वर्ष १९८८ के लिये हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार तथा 'आवारा मसीहा' के सुप्रसिद्ध लेखक श्री विष्णु प्रभाकर को उनकी नाट्यकृति "सत्ता के आरपार" पर प्रदान किया गया। यह नाटक भगवान ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली स्वामी की जीवनी पर आधारित है।

वरिष्ठ विद्वानों और लेखकों को देय वर्ष १९८८ के लिये अन्तर्राष्ट्रीय पार्वती जैन अवार्ड मुनि श्री नगराज जी डी० लिट् को उनके ग्रन्थ "आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन" पर प्रदान किया गया है जिसमें उन्हें 'जैन धर्म दिवाकर' की उपाधि और भगवान ऋषभदेव का ताम्रशिल्पमय सुन्दर प्रतिबिम्ब भेंट कर सम्मानित किया गया है।

श्री जैन शिक्षा प्रचारक सोसायटी, सदर बाजार, दिल्ली ने वयोवृद्ध विद्वान, सुलेखक और कुशल वक्ता पं० हीरा लाल जैन कौशल को उनकी दीर्घकालीन धार्मिक व सामाजिक सेवाओं के लिये रजतपट्टिका प्रदान कर सम्मानित किया है।

दिल्ली में ८ अप्रैल, १९९० को देश के जिन २५ प्रतिष्ठित नागरिकों को वर्ष १९८९ के राष्ट्रीय नागरिक पुरस्कार से सम्मानित किया गया उनमें आचार्य सुशील मुनि और पत्रकार गिरि लाल जैन भी हैं।

दक्षिण भारत जैन सभा कोल्हापुर तथा गांधी नाथारंग दि० जैन बोर्डिंग स्कूल सोलापुर द्वारा आयोजित आचार्य कुन्द-कुन्द जयन्ती समारोह में २०

जनवरी, १९९० को निम्नलिखित ९ विद्वानों को भूतपूर्व उपराष्ट्रपति डा० बी०डी० जत्ती के करकमलों से कुन्द-कुन्द पुरस्कार से सम्मानित किया गया :— १. पं० हेमचन्द जैन, कारंजा, २. डा० विलास संगवे, कोल्हापुर, ३. डा० आदित्य प्रचण्डिया, अलीगढ़, ४. डा० सुभाष अकाले, जयसिंगपुर, ५. पं० देव कुमार शास्त्री, मूडबिद्री, ६. डा० निर्मल कुमार, झडकुल, सोलापुर, ७. डा० बी० के० खड़बड़ी, संकेश्वर, ८. डा० मा० पं० मंगुडकर, पुणे तथा ९. श्री एम० के० धर्मराज, दिल्ली।

उज्जैन में विद्वान एवं सामाजिक कार्यकर्ता पं० सत्यन्धर कुमार सेठी का सुप्रसिद्ध साहित्यकार डा० शिवमंगल सिंह सुमन की अध्यक्षता में सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया।

भोपाल में जनप्रिय कवि श्री राजमल पवैया का सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया।

आगरा में वयोवृद्ध पत्रकार, 'श्वेताम्बर जैन' पत्र के संस्थापक-सम्पादक श्री जवाहरलाल लोढा का सार्वजनिक अभिनन्दन माह मार्च में हुआ।

सागर में १९-२० मार्च, १९९० को उद्भट चिन्तक मनीषी, प्रखर लेखक, स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य तथा संस्कृत जैन वाङ्मय के अधिकारी विद्वान डा० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य का अभिनन्दन समारोह आयोजित हुआ।

सतना में १०-१२ अप्रैल, १९९० को जैन विद्वत् परिषद के अधिवेशन में वयोवृद्ध विद्वान पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री का साधुवाद समारोह आयोजित हुआ है।

सम्मानित और अभिनन्दित उपर्युक्त सभी विद्वान मनीषियों को 'शोधादर्श' परिवार की ओर से बहुत-बहुत बधाई है।

——

बधाई

बम्बई जैन पत्रकार संघ के मंत्री, लेखक, पत्रकार एवं सामाजिक कार्यकर्ता श्री चिमनलाल एम०शाह 'कलाधर' को उनकी बहुविध सेवाओं के लिये महाराष्ट्र सरकार ने स्पेशल एक्ज्युकेटिव मजिस्ट्रेट मनोनीत किया है।

श्री धर्म चन्द जैन इन्स्टीट्यूट आफ सेक्रेटरीज के प्रेसीडेन्ट नियुक्त हुए।

श्री डी०आर० मेहता बैंकिंग विभाग में अतिरिक्त सचिव नियुक्त हुए।

श्री रतनलाल गंगवाल दिगम्बर जैन महासमिति के अध्यक्ष बनाये गये।

हुबली (कर्णाटक) से जनता दल के श्री जे०पी० जावली तथा मध्य प्रदेश से भा०ज०पा० के डा० जे०के० जैन इस वर्ष राज्य सभा के सदस्य निर्वाचित हुए।

शोधादर्श-१० में उल्लिखित महानुभावों के अतिरिक्त निम्नलिखित जैन महानुभाव भी लोक सभा में इस बार विजयी होकर आये—१. बनास कांठा (गुजरात) से भाजपा के श्री जयन्ती भाई शाह, २. महाराष्ट्र से कांग्रेस के श्री नरेश पुगलिया और ३. विदिशा से भाजपा के श्री राघवजी। आगरा से सांसद श्री अजय सिंह (श्वेताम्बर जैन) केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में उप मंत्री बनाये गये।

मध्य प्रदेश विधान सभा में इस बार मुख्य मंत्री श्री सुन्दरलाल पटवा (भाजपा) और मंत्री श्री हिम्मत कोठारी (भाजपा-रतलाम) के अतिरिक्त निम्नलिखित नौ जैन महानुभाव निर्वाचित होकर आये हैं—१. नरसिंहपुर से श्री उत्तम चन्द लूनावत (भाजपा), २. शुजालपुर से श्री नेमिचन्द जैन (भाजपा), ३. महिपपुर से श्री बाबू लाल जैन (भाजपा), ४. उज्जैन से श्री पारस जैन (भाजपा), ५. सागर से श्री प्रकाश चन्द जैन (इंका), ६. इन्दौर से श्री ललित जैन (इंका), ७. श्री मगन लाल गोयल, ८. श्री भागचन्द सोगानी, और ९. श्री दुलीचन्द।

राजस्थान विधान सभा में इस बार पर्यटन मंत्री श्रीमती पुष्पा जैन (पाली) के अतिरिक्त निम्नलिखित ७ जैन महानुभाव विजयी होकर आये हैं—१. श्री चम्पालाल जैन (ब्यावर), २. श्री जीतमल जैन (अलवर), ३. श्री चन्दनमल बैद, ४. श्री अनंग कुमार, ५. श्री शान्तिलाल चपलोत, ६. श्री महावीर प्रसाद और ७. श्रीमती तारा भण्डारी।

महाराष्ट्र विधान सभा में भी इस बार चादवड से श्री जयचन्द कासलीवाल और जलगांव से श्री सुरेश दादा जैन निर्वाचित होकर आये हैं।

उपर्युक्त सभी महानुभावों को 'शोधादर्श' परिवार की ओर से बहुत-बहुत बधाई है।

संगोष्ठियां

इन्दौर– कुन्द-कुन्द ज्ञानपीठ में ९ जनवरी, १९९० को जापान के जोबू विश्वविद्यालय में गणित के प्राध्यापक प्रो० योसिमासा मिचिवाकी और कु० मुत्सुको मिचिवाकी के सम्मान में आयोजित परिचर्चा में प्रो० मिचिवाकी ने गणित के उन्नयन में जैनाचार्यों के विशिष्ट योगदान की चर्चा की।

दिल्ली– ऋषभदेव प्रतिष्ठान के सान्निध्य में दिल्ली विश्वविद्यालय के बौद्ध विभाग में २५, २७ व २८ जनवरी, १९९० को 'भारतीय साहित्य में श्रमण परम्परा' तथा 'पाणि जाति और जैन संस्कृति' विषय पर अ०भा० जैन संगोष्ठी आयोजित हुई जिसमें अनेक विद्वानों ने भाग लिया।

उक्त विश्वविद्यालय के बौद्ध विभाग में ही २२-२३ फरवरी, १९९० को श्री राजकृष्ण जैन स्मृति व्याख्यानमाला के अन्तर्गत पंजाब विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्रो० जगन नाथ अग्रवाल ने 'लौकिक संस्कृत साहित्य को जैनों का योगदान और उसका महत्व' विषय पर व्याख्यान दिया।

लखनऊ– मंगलवार, ६, फरवरी, १९९० को इतिहास मनीषी स्व० डा० ज्योति प्रसाद जैन की ७८ वीं जन्म-जयन्ती पर ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ में वरिष्ठ पत्रकार श्री ज्ञान चन्द जैन की अध्यक्षता में 'जैन धर्म और संस्कृति' विषय पर संगोष्ठी हुई। महावीराष्टक और भजनों से प्रारम्भ हुए कार्यक्रम में स्व० डाक्टर साहब के 'जैन धर्म और संस्कृति' विषयक निबन्ध का पारायण हुआ और उस पर चर्चा हुई जिसमें डा० हर्ष नारायण, श्री अजित प्रसाद जैन, डा० पूर्ण चन्द, श्री के०जी० गोरे, डा० शशि कान्त तथा अन्य उपस्थित प्रबुद्धजनों ने भाग लिया।

कोल्हापुर– ७ व ८ फरवरी, १९९० को शिवाजी विद्यापीठ में डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये स्मृति व्याख्यानमाला के अन्तर्गत प्रसिद्ध समाज शास्त्री डा० विलास संगवे ने 'जैनियों का सामाजिक इतिहास' और 'भारतीय संस्कृति में जैनियों का योगदान' विषयों पर व्याख्यान दिये।

जयपुर– १८ फरवरी, १९९० को उच्च स्तरीय अध्ययन अनुसंधान संस्था की ओर से डा० कमल चन्द सोगानी की अध्यक्षता में डा० दरबारी लाल कोठिया ने 'जैन दर्शन में अनेकान्त' विषय पर व्याख्यान दिया।

समाचार

पुरा मूर्तियां जैन समाज को सौंपी गई—हांसी किले से प्राप्त जैन मूर्तियां तत्कालीन मुख्य मंत्री श्री ओम प्रकाश जी चौटाला के सौजन्य से हांसी जैन समाज को ३१-१-९० को प्राप्त हो गई हैं। इन मूर्तियों को जैन समाज को दिलाने में सोनीपत जैन समाज के युवा नेता स्व० श्री अरुण जैन का मुख्य प्रयास रहा था।

मांसाहारी का प्रवेश निषेध—कर्नाटक प्रदेश में गुलबर्गा नगर से ८ किलोमीटर की दूरी पर स्थित १४ वीं शती के मुस्लिम संत हजरत नुरुद्दीन के मकबरे के द्वार पर यह वाक्य अंकित है—

यदि आपने मांस भक्षण किया हो तो कृपया भीतर प्रवेश न करें।

भारत जैन महामंडल का अधिवेशन—भारत जैन महामंडल का दो दिवसीय अधिवेशन बम्बई में (चर्च गेट पर हाकी ग्राउन्ड में) २०-२१ जनवरी १९९० को सम्पन्न हुआ। कार्यक्रम में सभी जैन सम्प्रदायों के साधु साध्वी सम्मिलित हुए। संवत्सरी की तिथि भादवा सुदी पंचमी जो दशलक्षण महापर्व की प्रारंभिक तिथि है को सम्पूर्ण जैन समाज द्वारा अहिंसा दिवस के रूप में मनाने का एक प्रस्ताव द्वारा निश्चय किया गया।

महासभा का अधिवेशन—श्री सिद्ध क्षेत्र मांगी तुंगी जी (जिला-नासिक, महाराष्ट्र) में श्री भा० दि० जैन महासभा का ९५ वां अधिवेशन आचार्य कल्प श्री श्रेयांस सागर जी के संसघ सानिध्य में सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में श्री निर्मल कुमार जी सेठी को उत्तरांचल दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी द्वारा संरक्षक पद से हटाए जाने के विरोध में प्रस्ताव पास कर उक्त कमेटी की निन्दा की गई तथा उनसे अपने प्रस्ताव को निरस्त करने का अनुरोध किया गया। तथा महासभा के महामंत्री जी ने भारतवर्षीय तीर्थ क्षेत्र कमेटी तथा अंचलीय व क्षेत्रीय तीर्थ क्षेत्र कमेटियों से कहानवादियों को हटाना ही महासभा का उद्देश्य बताया। महासभा ने महाराष्ट्र के मन्दिरों में आर्ष मार्ग प्रणीत साहित्य स्वाध्याय हेतु उपलब्ध कराने के लिए एक शास्त्र दान योजना का भी प्रारम्भ किया जिसके अन्तर्गत प्रत्येक मन्दिर को एक अलमरी तथा रु० ५००/- का आर्ष मार्ग साहित्य प्रदान किया जाएगा।

महामंत्र वन्दना रथ—आ० कल्याणसागर म० की प्रेरणा से मेरठ से णमोकार महामंत्र वन्दना रथ का प्रवर्तन किया जा रहा है। रथ प्रवर्तन के लिए अपना शुभाशीर्वाद देते हुए आचार्य श्री ने कहा कि यह रथ घृणा को मिटा कर

प्रेम का वातावरण पैदा करेगा। इसके द्वारा शाकाहार एकता व मैत्री का प्रचार प्रसार होगा। उन्होंने कहा कि इस वर्ष को सारे देश में णमोकार वर्ष के रुप में मनाया जाए। आचार्य श्री ने ये उद्‌गार दि० १०-११ फरवरी १९९० को मेरठ में विश्व कल्याण महामंत्र णमोकार प्रसारण संघ द्वारा आयोजित णमोकार महामंत्र सम्मेलन में बोलते हुए व्यक्त किए।

हम णमोकार महामंत्र वन्दना रथ के प्रवर्तन का स्वागत करते हैं तथा आयोजकों को सुझाव देना चाहते है कि इस रथ के प्रवर्तन का शुभारम्भ हरियाणा पंजाब व जम्मू-काश्मीर से किया जाए जहां कि इस समय मैत्री व एकता की सर्वाधिक आवश्यकता है।

ओशो रजनीश—जन्म-रजनीश चन्द्रमोहन-होशंगाबाद, म०प्र० में ११-१२-१९३१ शिक्षा सागर और जबलपुर। वे बाद में बम्बई आ गए और अपने भक्तों के फ्लैटों में आयोजित बैठकों में प्रवचन देने लगे। भक्तों की संख्या बढ़ने पर खुले स्थान पर प्रवचन देने लगे इस सिलसिले में उन्होंने काफी दौरे भी किए। जब उनके अनुयायियों की संख्या में तेजी से वृद्धि होने लगी तो वे पुणे चले गए और कोरे गांव स्थित एक सूनसान स्थान पर रजनीशधाम की स्थापना की। विदेशी भक्तों की वर्जनाहीन जिन्दगी आश्रम के बाहर फैलने लगी तो पुणे वासियों ने उनका जोरदार विरोध किया। विरोध की यह लहर इस तेजी से फैली कि वे भारत से अपना डेरा डम्मर उठाकर अमरीका चले गए। १९८५ तक विरोध की लहर वहां भी तेजी से फैली, फलतः अमरीकी सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया और कुछ शर्तों पर रिहा कर अमरीका से निष्कासित कर दिया। जब दूसरे देशों में उन्हें ठौर नहीं मिला तो १९८६ में वे अपने अनुयायियों के साथ भारत लौट आए। हिमाचल सरकार द्वारा आश्रम बनाने की अनुमति न दी जाने पर वे पुनः पुणे आ गए।

उन्होंने लगभग ६५० पुस्तकें लिखीं। जिनका ३२ भाषाओं में अनुवाद हुआ। उन्होंने दस हजार से अधिक प्रश्नों के उत्तर दिए। उनके पिता की कुछ समय पहले जब मृत्यु हुई थी तो उन्होंने मौत का गम मनाने के बजाय जश्न मनाया था और इस बात का निर्देश दिया था कि सभी की मौत को जश्न के रुप में मनाया जाना चाहिए। इसी लिए उनके अनुयायियों ने १९ जनवरी, १९९० को ओशोधाम पुणे में उनकी मौत से दुःखी होने के बावजूद जश्न मनाया। लेकिन गाजियाबाद की एक शिष्या शारदा ने उनके निधन का समा-

चार सुनते ही, प्रार्थना के समय आत्महत्या करने की कोशिश की। शारदा सहित दो अन्य शिष्यामाओं (मां प्रगति एवं मां पूनम) ने खुद को विधवा घोषित कर दिया। ओशो कुछ भी थे, लेकिन अनुयायियों के भीतर उनके प्राण बसे हुए थे। वे उनके लिए जान देने तक के लिए तत्पर रहते थे। एक रजनीशी के अनुसार "अगर ओशो ने मौत को जश्न के रुप में मनाने की ताकीद न की होती तो शायद उनकी मौत की खबर सुनते ही समूचे विश्व में आत्म-हत्याओं का सिलसिला शुरू हो गया होता।

रजनीश ने अपने भक्तों के सामने गौतम बुद्ध हाल में जैन दर्शन पर आखरी प्रवचन ९-४-८९ को दिया था।

शोक संवेदन—२३ फरवरी, १९९० को लखनऊ में हिन्दी के वयोवृद्ध सुप्रसिद्ध साहित्यकार पं० अमृत लाल नागर, जिनका जैन संस्कृति से भी विशेष अनुराग था, का निधन हो गया। 'शोधादर्श' परिवार दिवंगत आत्मा की शान्ति की कामना करता है।

लखनऊ में महावीर जयन्ती—७ अप्रैल, १९९० को प्रात: ८-०० बजे तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति पुस्तकालय, चारबाग, लखनऊ में महावीर जयन्ती के उपलक्ष में प्रबुद्ध जनों की गोष्ठी श्री अजित प्रसाद जैन की अध्यक्षता में हुई। गोष्ठी में 'महावीराष्टक' के साथ सामूहिक पाठ के उपरान्त भगवान महावीर के जीवन एवं दर्शन पर चर्चा की गई जिसमें डा० शशि कान्त व अन्य उपस्थित जनों ने भाग लिया।

पटेलनगर स्थित स्थानक में तथा साकेतपल्ली में भजन-कीर्तन आदि के कार्यक्रम हुए। अपराह्न में नगर में भव्य शोभा यात्रा निकाली गई और सायंकाल झण्डे वाले पार्क में न्यायमूर्ति श्री वीरेन्द्र कुमार जैन की अध्यक्षता में सार्वजनिक सभा हुई जिसमें मुख्य अतिथि हरिजन एवं समाज कल्याण मंत्री श्री अवधेश प्रसाद थे। सभा में डा० शशि कान्त और नगर प्रमुख डा० दाऊ जी गुप्त प्रभृति विद्वानों ने भगवान महावीर के उपदेशों पर आधुनिक सन्दर्भ में प्रकाश डाला।

९ अप्रैल को रवीन्द्रालय, चारबाग में युवा जैन मिलन एवं जैन मिलन द्वारा श्रीमती सुधा जिन्दल की प्रस्तुति 'कुणिक-अजातशत्रु' नाटक का मंचन हुआ। इसमें भगवान महावीर की शिक्षाओं को रोचक ढंग से दर्शाया गया है।

१५ अप्रैल को गांधी विचारमण्डल द्वारा स्थानीय जैन मिलन के सहयोग से गांधी भवन में महावीर जयन्ती के उपलक्ष में एक संगोष्ठी आयोजित की गई

जिसकी अध्यक्षता डा० शशि कान्त ने की। विभिन्न वक्ताओं ने भगवान महावीर के व्यक्तित्व और शिक्षाओं पर अपने विचार व्यक्त किये और गीत एवं भजन प्रस्तुत किये। ★

अभिमत

शोधादर्श-१० प्राप्त हुआ। बहुत ही उपयोगी है। इसमें सभी लेख खोजपूर्ण हैं जो ज्ञानवर्धक हैं। इसके लिये बहुत-बहुत बधाई !

—सुमेर चन्द जैन
सम्पादक 'वर्णी प्रवचन'
१५, प्रेमपुरी,
मुजफ्फरनगर-२५१००१

शोधादर्श-१० मिला। अंक की सामग्री सराहनीय एवं उच्च कोटि की है। मेरा विश्वास है 'शोधादर्श' कुछ ही समय में देश के शीर्षस्थ शोधपत्रों में से एक होगा।

—अभय प्रकाश जैन
एन-१४, चेतकपुरी,
ग्वालियर-४७४००१

शोधादर्श का १०वां अंक मिला। अंक गुरु-गुण-कीर्तन से प्रारम्भ हुआ है। इसमें श्री रमा कान्त ने आचार्य कुन्दकुन्द के नामों की भ्रान्तियां दूर की हैं जो तर्क सम्मत है। भाई अजित जी का आचार्य कुन्दकुन्द पर लेख खोजपूर्ण है– अब तक प्रकाशित लेखों में श्रेष्ठ। यदि उनका दीक्षा नाम पद्मनन्दी होता तो वे उसी नाम से पुकारे और जाने जाते। श्री अभय प्रकाश के 'संगीत समयसार' में स्वर और पद विवेचन ज्ञानवर्द्धक है। डा० शशि कान्त का लेख 'धर्म: आडम्बर और यथार्थ' पठनीय है। वैसे कोई धर्म ऐसा नहीं है जिसमें आडम्बर न हो। सभी अपने धर्म को औरों से श्रेष्ठ बताते हैं जबकि अनेकान्त दृष्टि से सभी मानव का हित करने वाले हैं। 'आइये इन्हें भी स्मरण कर लें' एक स्तुत्य परम्परा है जो शोधादर्श ने डाली है। जैन पत्र-पत्रिकाओं की जानकारी देना भी उपयोगी

है । वैसे सभी रचनाएं शोध-खोज वाली हैं । इस उच्चकोटि की पत्रकारिता के लिये बधाई !

—प्रताप चन्द्र जैन
२१/६३, धूलियागंज,
आगरा

आप द्वारा प्रेषित 'शोधादर्श-१०' मिला । मैंने उसे पढ़ डाला । कई लेख ज्ञानवर्द्धक लगे । उदाहरणार्थ 'संस्कृत के जैन सन्देश काव्य' शोध प्रबन्ध की समीक्षा, स्व० बाबूजी (डा० ज्योति प्रसाद जी) के प्रति श्रद्धाञ्जलि, पत्र-पत्रिकाओं की समीक्षा आदि कई दृष्टियों में पत्रिका महत्वपूर्ण है । 'शोधादर्श' के सफल प्रकाशन हेतु बधाई स्वीकार करें ।

—डा० शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी
सहायक निदेशक, राज्य संग्रहालयल, लखनऊ
सपर्या, २२३/१०, रस्तोगी टोला,
राजा बाजार, लखनऊ

'शोधादर्श' की रचनाओं को देखकर सन्तोष, हर्ष और गौरव का अनुभव होता है । डाक्टर साहब (ज्योति प्रसाद जी) के स्वप्नों को आप लोग जिस तरह साकार कर रहे हैं, वह हम लोगों के लिये प्रेरणा की बात है ।

—डा० विनोद कुमार तिवारी
एम. ए., पी-एच. डी.
लेक्चरर इन हिस्ट्री,
यू. आर. कालेज, रोसडा-८४८२१०
(समस्तीपुर) बिहार

—

शोधादर्श के आजीवन सदस्य

१. श्री रूपचन्द जी कटारिया, 37-A/2, राजपुरा रोड, नई दिल्ली
२. डा० श्रीमती इन्दु रस्तोगी, c/o डा० कमलकिशोर रस्तोगी, न्यु यूनीवर्सिटी फ्लैट्स, कैमरल रोड, लखनऊ-२२६ ००७
३. श्री विद्याचन्द्र कोठारी, नेहरूगंज, गुलबर्गा (कर्नाटक)—५८५ १०४

इस अंक के लेखक

श्री अजित प्रसाद जैन : सेवा निवृत्त उप सचिव, उ० प्र० शासन, एवं मन्त्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र० पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ-२२६००४

श्री अभय प्रकाश जैन : एन-१४, चेतकपुरी, ग्वालियर-४७४००९

डा० ज्योति प्रसाद जैन : विश्व-विश्रुत विद्वान मनीषी जो अब हमारे बीच नहीं हैं।

श्रीप्रकाशचन्द्र जैन'दास' : १२ सी डी, आदर्शनगर, आलमबाग, लखनऊ-२२६००५

डा० रज्जन कुमार : पी-एच. डी., लेहरचन्द शोध संस्कृति संस्थान, दिल्ली में पोस्ट डाक्ट्रल फैलो, निवास पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई. टी. आई. रोड, वाराणसी-५

श्री रमा कान्त जैन : अनु सचिव, उ० प्र० शासन, ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६०१९

कु० विमा जैन : एम. ए. (हिन्दी), शोध छात्रा, ३०, ऋषि टोला, फैजाबाद

डा० शशि कान्त : एम. ए., डी. आर., पी-एच. डी., विशेष सचिव, उ० प्र० शासन, ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६०१९

आवश्यक सूचना

शोधादर्श में प्रकाशनार्थ शोधपरक अप्रकाशित लेख आमन्त्रित हैं। लेख कागज के एक ओर सुवाच्य अक्षरों में लिखित अथवा टंकित होना चाहिए और उसमें यथावश्यक संदर्भ/स्रोत सूचित किया जाना चाहिए। लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रख लें।

शोधादर्श में समीक्षार्थ पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं की दो प्रतियां भेजी जायें। शोधादर्श में प्रकाशित लेखों को उद्धरित किये जाने में आपत्ति नहीं है, परन्तु उसमें शोधादर्श का श्रेय स्वीकार किया जाना और पूर्ण संदर्भ दिया जाना अपेक्षित है।

प्रकाशनार्थ लेख और समीक्षार्थ पुस्तक प्रबन्ध सम्पादक को "पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ-२२६ ००४" के पते पर भेजी जायें।

प्रबन्ध सम्पादक

उपयोगी साहित्य

तीर्थङ्कर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०, लखनऊ के प्रकाशन—

1. भगवान महावीर स्मृति ग्रन्थ–सम्पादक डा० ज्योतिप्रसाद जैन, मूल्य 50 रु०
2. आदितीर्थ अयोध्या— ले० डा० ज्योतिप्रसाद जैन ,, 3 रु०
3. Bhagwan Mahavira : Life, Times & Teachings, by Dr. Jyoti Prasad Jain 5/-
4. Way to Health & Happiness-Vegetarianism, by Dr. Jyoti prasad Jain 4/-
5. Mysteries of Life and Eternal Bliss, by Prof. Anant Prasad Jain 7.50
6. जीवन रहस्य एवं कर्म रहस्य— ले० प्रो० अनन्त प्रसाद जैन 7.50

विशेष सूचना

इतिहास-मनीषी विद्यावारिधि डा० ज्योति प्रसाद जैन की सद्यः प्रकाशित कृति

जैन-ज्योति : ऐतिहासिक व्यक्तिकोश

प्रथम खण्ड (अ से अं)

शोधार्थियों ही नहीं सामान्य पाठकों के लिये भी अनुपम ज्ञान का भण्डार है। दो सो पृष्ठीय इस सजिल्द कृति का मूल्य मात्र पचास रुपये है।

प्राप्ति स्थान :

ज्ञानदीप प्रकाशन
ज्योति निकुञ्ज, चारबाग,
लखनऊ–२२६ ०१९

डाक्टर साहब की अन्य कृतियां भी ज्ञानदीप प्रकाशन, ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ–२२६ ०१९ से प्राप्त की जा सकती हैं।

मुद्रक : रत्न-ज्योति प्रेस, चारबाग, लखनऊ–19 (उ०प्र०)